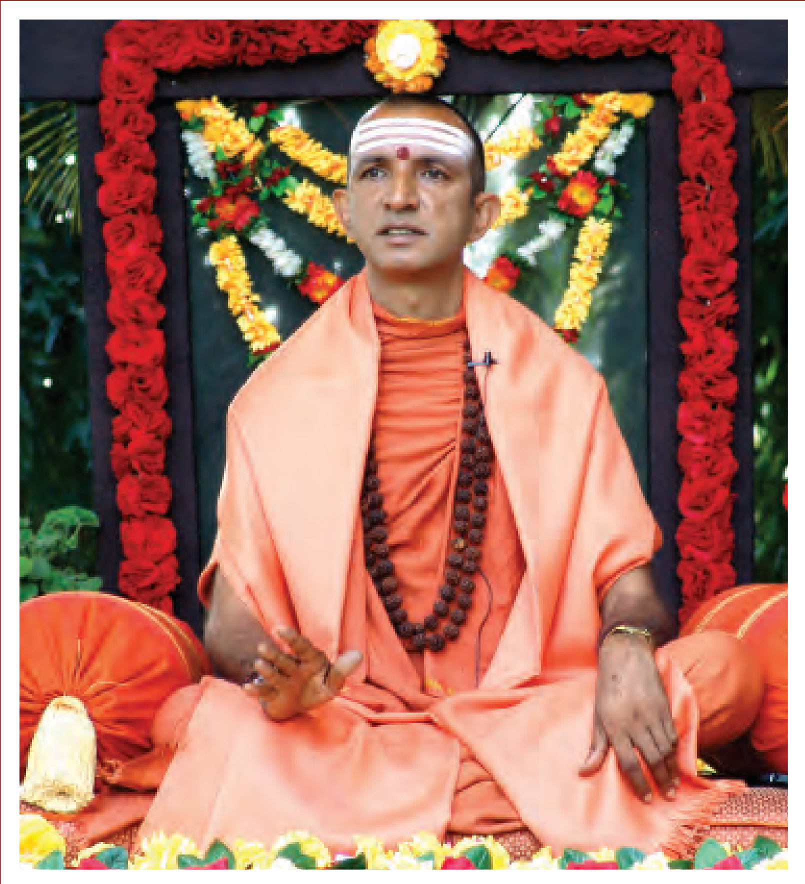
BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला

कर्म और कर्मयोग

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

कर्म और कर्मयोग

ॐ, प्रेम, मंगलम्

कर्म और कर्मयोग

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

विश्व योगपीठ, गंगा दर्शन, मुंगेर में 25 से 28 फरवरी 2010 तक आयोजित योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचन



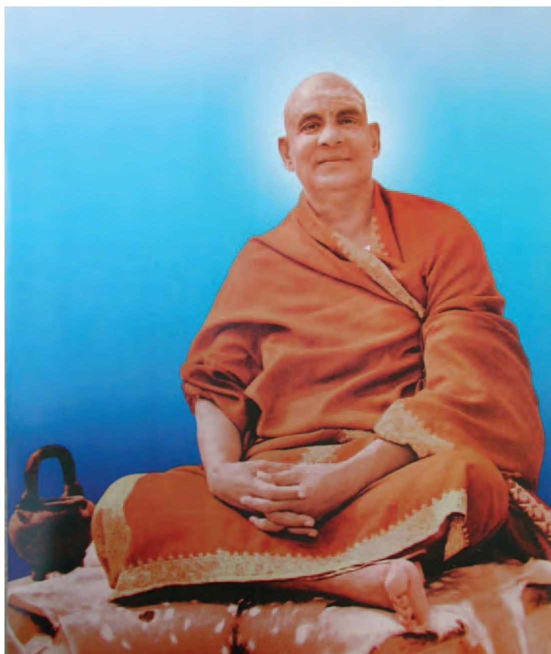
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रथम प्रकाशन 2013
पुनर्मुद्रण 2014

ISBN: 978-93-81620-60-1

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.in



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

कर्म और कर्मयोग

25 फरवरी 2010

इस सत्संग शृंखला के लिए विषय है कर्म और कर्मयोग। कर्म और कर्मयोग को समझने से पहले हमें इनकी वास्तविक अवधारणा को समझना होगा। हमें इन्हें केवल क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के अनुभवों और अभिव्यक्तियों के रूप में, जीवन की परिस्थितियों के रूप में देखना है।

कर्म की उत्पत्ति

कर्म शब्द संस्कृत के 'कृ' धातु से आया है जिसका अर्थ है, किसी क्रिया में संलग्न होना। 'क्रिया' और 'कर्म', दोनों शब्द 'कृ' धातु से लिए गए हैं। क्रिया का अर्थ होता है कार्य-कलाप जबकि कर्म का अर्थ मात्र कार्य-कलाप नहीं बल्कि अभिव्यक्ति भी है। मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति। यह ऐसी चीज है जो सहज और स्वाभाविक रूप से व्यक्त होती है, और देखा जाए तो समस्त जीवन कर्म की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह सारी सृष्टि कर्म की साक्षात् अभिव्यक्ति ही है, जिसमें कर्म का बीज दैवी इच्छा से आरोपित किया गया है।

इस दृश्य जगत् के पीछे एक सूक्ष्म, अव्यक्त आयाम है। उस अव्यक्त आयाम की कल्पना करते हुए वहाँ से बाहर की ओर, व्यक्त आयाम की ओर नज़र बढ़ाइये। कर्म की उत्पत्ति कहाँ होती है? जब इस संसार में कुछ नहीं था, जब सृष्टि नहीं थी, केवल अनन्त आकाश था, तब उस समय केवल एक

विचार ही था। और वह विचार समस्त व्योम में छाया हुआ था। हमारे शास्त्रों में उस व्योम को ही सर्वोपरि माना गया है, परमेश्वर माना गया है।

वेदों में कहा गया है – *खं ब्रह्म*। खं का तात्पर्य आकाश, व्योम या अंतरिक्ष से है। खं को ही ब्रह्म कहा गया है क्योंकि आकाश तत्त्व ही सभी तत्त्वों का, सभी भूतों का, सभी जीवों का अधिष्ठान है और इसकी सदा वृद्धि होती रहती है, विस्तार होता रहता है। उस अनन्त व्योम में, अंतरिक्ष में, बस एक स्पन्दन, एक चिन्तन मात्र था – *एकोऽहम् बहुस्याम्* – मैं एक हूँ, अनेक बनना चाहता हूँ। उस अनन्त आकाश में इस स्पन्दन का उद्भव ही कर्म के प्रारम्भ को द्योतक है। कर्म का बीजारोपण एक विचार से, एक स्पन्दन से होता है। उस विचार में अनेक बनने की इच्छा निहित रहती है। 'एक' से 'अनेक' कैसे बनेगा? किस विधि से यह अभिव्यक्ति होगी? आखिर एक से अनेक बनने की प्रक्रिया भी तो स्वयं में एक कर्म ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि का जो मूल बीज है, वह यही विचार है – 'मैं अपने आपको अनेक रूपों में देखना चाहता हूँ, अपने आपको विभाजित करना चाहता हूँ, अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता हूँ।' यहाँ से उस अनन्त व्योम में कर्म का बीजारोपण होता है, और एक बार जब बीजारोपण हो जाता है तब फिर उस कर्म को, उस इच्छा को मूर्त्त रूप देने के लिए ऊर्जा की उत्पत्ति होती है।

ऊर्जा और चेतना, ये दो सनातन सत्य हैं जीवन के। ये दोनों जगत् के आधार बनते हैं, फिर सृष्टि का क्रम शुरू होता है। कर्म के द्वारा ही जीवन का विकास होता है, सृष्टि का विस्तार होता है और ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है। प्रलय के समय भी कर्म के माध्यम से इनका नाश होता है।

व्यक्त, प्रत्यक्ष सृष्टि को संस्कृत में प्रकृति कहते हैं। प्रकृति शब्द, 'प्र', 'कृत्' और 'इ' के मेल से बना है। 'प्र' उपसर्ग है, जिसका अर्थ हुआ प्रबल, उत्कृष्ट या सर्वश्रेष्ठ। 'कृत्' धातु क्रिया या अभिव्यक्ति को दर्शाता है, और अन्त में इकारान्त है जो ऊर्जा का, शक्ति तत्त्व का द्योतक है। तो जब प्रकृति शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा उत्कृष्ट क्रियाओं का सम्पादन होता है।

प्रकृति ही वह शक्ति है जिससे सारे जगत् और इसके सभी चराचर प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। जब प्रकृति से जीवन की उत्पत्ति होती है तब वह कर्म के अधीन होता है। इस सृष्टि में हर चीज कर्म के अधीन है। कर्म से



कोई मुक्त नहीं है। अंकुरित होता बीज, चमकता हुआ सूरज, धधकती आग, बहती हवा– ये सब कर्म के नियम से बंधे हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्त्री-पुरुष, सभी कर्म के कारण जीवित हैं। असंख्य ग्रह-नक्षत्रों, सौरमण्डलों और ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और समाप्ति कर्म के बल पर ही होती है।

शास्त्रों में कहा गया है– *संसरति इति संसार:*। जो सरकता है, गतिशील है, वह संसार है। यहाँ गति का सम्बन्ध क्रिया से है। क्रिया और कर्म सृष्टि के नियम हैं। इस सृष्टि में हर प्राणी, हर पदार्थ कर्म करता है, चाहे वह पत्थर हो अथवा कीटाणु, पेड़-पौधा, पशु-पक्षी या मनुष्य। अन्तर बस इतना है कि मनुष्य को अपनी बुद्धि द्वारा यह मालूम है कि वह कर्म कर रहा है जबकि अन्य जीवों को इसका ज्ञान नहीं होता। लेकिन कर्म के बारे में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है। हम कर्मों को इन्द्रियों से जोड़ देते हैं और मान लेते हैं कि

इन्द्रियों के माध्यम से ही कर्म होता है। लेकिन इन्द्रियाँ स्वयं कर्म नहीं करतीं, क्योंकि उनकी अपनी बुद्धि नहीं होती। कर्म का विधान ही इन्द्रिय, शरीर और मन द्वारा सभी आवश्यक कर्म कराता है, और इन्द्रियों के माध्यम से हमें उन कर्मों का बोध होता है। यह सारा दृश्य जगत्, जिसका अनुभव मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा कर सकता है, कर्मों से व्याप्त है।

लेकिन इस कर्म का एक सहयोगी भी होता है, जिसके बिना वह अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जब तक यह सहयोगी साथ होता है तब तक प्रकृति कर्म करती है, हम कर्म करते हैं, संसार कर्म करता है, लेकिन अगर इस साथी का साथ छूट जाय तब फिर कर्म सुचारू रूप से सम्पादित नहीं होता। इस साथी को हम लोगों ने नाम दिया है धर्म। सम्पूर्ण सृष्टि अपने धर्म के अनुसार ही कर्म करती है। धर्म का मतलब है मर्यादा या व्यवस्था। इसका सम्बन्ध पूजा-पाठ या अन्य कर्मकाण्डों से नहीं। वे सब तो इसके साथ बाद में जुड़े। कर्म का जब उद्भव हुआ तो उसी के साथ धर्म का भी जन्म हुआ था। ये दोनों जुड़वाँ भाइयों की तरह हैं, दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। प्रकृति में सब कुछ एक विधान, एक धर्म के अनुसार घटित होता है। एक वृक्ष अपने धर्म के अनुसार बढ़ता है, ऋतुएँ धर्म के अनुसार बदलती हैं। कर्म और धर्म, क्रिया और व्यवस्था, ये दोनों जीवन और सृष्टि के आधार हैं।

इस व्यक्त जगत् में हम कर्म की भूमिका को कैसे समझ सकते हैं? अव्यक्त आयाम में इसे समझने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वहाँ तो कर्म सिर्फ ज्ञान की एक अभिव्यक्ति है। हमें जो जानना और समझना है, वह हमारा अपना जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जो कर्म अभिव्यक्त हो रहे हैं, उन्हें समझने और संभालने की आवश्यकता है। जब हम अपना जीवन संभाल सकेंगे तब अव्यक्त आयाम में कर्म की भूमिका को समझने में देर नहीं लगेगी। इसलिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही है कि हमारे अपने जीवन में कर्म कैसे प्रकट होते हैं?

कर्म का सॉफ्टवेयर

जब हम कम्प्यूटर खरीदते हैं तब उसे चलाने वाला ऑपरेटिंग सिस्टम सॉफ्टवेयर भी साथ मिलता है। इसी सॉफ्टवेयर की सहायता से हम कम्प्यूटर में अन्य प्रोग्राम डालकर कम्प्यूटर का भली-भाँति प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार, जब हमें यह शरीर प्राप्त होता है, तब यह एक ऑपरेटिंग सॉफ्टवेयर के साथ आता

है। यह जीवन कर्म की अभिव्यक्ति है और अपने आपको व्यक्त करने के लिए, प्रकट करने के लिए कर्म अपने साथ आवश्यक सॉफ्टवेयर लाता है।

कर्म का ऑपरेटिंग सॉफ्टवेयर चार अंगों में विभाजित किया जा सकता है। पहला सॉफ्टवेयर है मूल-प्रवृत्तियों यानि आहार, निद्रा, भय और मैथुन का। दूसरा सॉफ्टवेयर है स्वभाव का। यह हमारे मन की, हमारे व्यक्तित्व की मूल प्रकृति है। तीसरा सॉफ्टवेयर है संस्कारों का, जिन्हें हम न जाने कब से अपने साथ लिए चल रहे हैं। और चौथा सॉफ्टवेयर है इन्द्रियों के क्रिया-कलापों का। ये चार प्रकृति-प्रदत्त सॉफ्टवेयर जन्म के साथ हमें प्राप्त होते हैं और जीवन की पृष्ठभूमि में सदा कार्यरत रहते हैं।

चेतना और ऊर्जा

दो तत्त्व जीवन को नियंत्रित करते हैं, चेतना और ऊर्जा। तंत्र में ये शिव और शक्ति, वेदान्त में ब्रह्म और माया तथा सांख्य में पुरुष और प्रकृति के नाम से जाने जाते हैं। चेतना देख सकती है, अनुभव कर सकती है, योजना बना सकती है, किन्तु उसे क्रियान्वित नहीं कर सकती। दूसरी ओर ऊर्जा देख नहीं सकती, विचार नहीं कर सकती, किन्तु क्रिया को सम्पादित कर सकती है। इनका वर्णन दो व्यक्तियों के रूप में किया जाता है, जिनमें एक अंधा है और दूसरा लंगड़ा। चेतना पंगु है, उसकी आँखें हैं, परन्तु पैर नहीं। शक्ति अंधी है, देख नहीं सकती, किन्तु उसके पैर हैं। ये दो तत्त्व सृष्टि के लिए, जीवन के लिए उत्तरदायी हैं।

चेतना योजना बना सकती है, देख सकती है और विश्लेषण कर सकती है, किन्तु बिना शक्ति की सहायता और सहयोग के उसे क्रियान्वित नहीं कर सकती। आपसे एक प्रश्न करता हूँ, यदि एक अंधा व्यक्ति और एक पंगु व्यक्ति इस कार्यक्रम में आना चाहें तो कैसे आएँगे? पंगु व्यक्ति अंधे व्यक्ति के कन्धों पर बैठ जाएगा और अंधे को चलने की राह बताएगा। अंधा व्यक्ति मार्गदर्शन के लिए पंगु व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर रहेगा। एक भूमिका के निर्वहन हेतु, एक प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन दोनों को एक-दूसरे की सहायता करनी होगी। इसी प्रकार चेतना और शक्ति एक-दूसरे की सहायता किया करते हैं।

चेतना अर्थात् शिव, शक्ति के कन्धों पर बैठकर मार्गदर्शन देती है। शक्ति को शिव के दिशा-निर्देशों का पालन करना होता है। चेतना और शक्ति का यह

परस्पर सम्बन्ध जीवन की दिशा निर्देशित करता है और इसी का नाम 'कर्म' है। जब कर्म किसी जीव के साथ जुड़ता है तब चेतना और शक्ति उस जीव के व्यक्तित्व में सिस्टम सॉफ्टवेयर की भाँति पृष्ठभूमि में स्थापित हो जाते हैं।

सभी जीवों का अपना सॉफ्टवेयर होता है। यहाँ तक कि पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का भी। स्वामी शिवानन्द कहा करते थे कि पत्थरों में चेतना सोती है, पेड़-पौधों में स्वप्न देखने लगती है, पशु-पक्षियों में जागने लगती है और मनुष्यों में सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती है। चेतना और ऊर्जा सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं। इनके बिना किसी चीज का सृजन नहीं हो सकता। पत्थर के एक टुकड़े में भी चेतना होती है। क्वॉन्टम फिज़िक्स में इस बात का उल्लेख आता है कि किस प्रकार एक पत्थर के भीतर स्थित ऊर्जा-केन्द्र से जुड़कर, उसकी सुषुप्त चेतना को जागृत किया जा सकता है। शिव और शक्ति के रूप में चेतना और ऊर्जा जीवन का सृजन कर उसमें सॉफ्टवेयर जोड़ देते हैं और वे सॉफ्टवेयर कर्म द्वारा निर्देशित होते हैं।

इस क्रम में पहला सॉफ्टेयर है मूल प्रवृत्तियों का, दूसरा है मानसिक स्वभाव का, तीसरा है मानसिक संस्कारों का और चौथा है इन्द्रियों की गतिविधियों का। इन सॉफ्टवेयर प्रणालियों को अलग-अलग नामों से जाना जाता है, पर ये सभी कर्म से सम्बद्ध हैं। कर्मों के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि कर्म हमारे जीवन के विधायक तत्त्व हैं। लेकिन कर्मों की दिशा बदली जा सकती है और यही वह पुरुषार्थ है जो आध्यात्मिक साधकों को करना पड़ता है।

स्वामी सत्यानन्द जी के जीवन में कर्म

हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी जब स्वामी शिवानन्द जी से संन्यास ग्रहण कर रहे थे तब उन्होंने स्वामी शिवानन्द जी से पूछा, 'संन्यास लेने के बाद मेरी क्या भूमिका होगी? क्या मुझे अपने कर्मों से मुँह मोड़ लेना होगा?'

हमारे समाज में एक प्रचलित मान्यता है कि व्यक्ति को अपने कर्मों से मुक्त होने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए, चाहे जोर-जबरदस्ती क्यों न करनी पड़े। लेकिन इस बात को याद रखो कि जिस क्षण तुम कर्मों से मुक्त होगे, उसी क्षण तुम्हारा अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। इस सृष्टि का आधार कर्म है, कर्मों के बगैर तुम इस सृष्टि में कैसे रह पाओगे? स्वामी शिवानन्द जी ने यही बात कही।

जीवन के सामान्य परिवेश में कर्मों का क्षय सम्भव नहीं। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा–'संन्यास लेने के बाद भी तुम वही सब कर्म करते रहोगे जो आज तक करते आए हो–झाड़ू-पोंछा लगाना, दफ्तर में काम करना, रसोई में खाना बनाना, टाइपिंग करना, किताबें छापना, चिट्ठियों का जवाब देना। कर्म नहीं छूटेगा।' तब श्री स्वामीजी ने कहा, 'जब यही सब करना है तो मैं घर चला जाता हूँ और वहीं रहकर यह सब करूँगा। इसी बहाने मेरे घरवालों को थोड़ी मदद भी हो जाएगी।'

तब स्वामी शिवानन्द जी ने श्री स्वामीजी को समझाते हुए कहा–'हाँ, कर्म तुम घर में भी रहकर कर सकते हो और आश्रम में भी। दोनों जगह कर्म ही होता है, अन्तर बस इतना है कि जब तुम घर में रहकर कर्म करोगे तो अपने सुख, अपने संतोष, अपनी तृप्ति के लिए करोगे। तुम कुछ अपेक्षाओं को लेकर कर्म करोगे और इसलिए उन कर्मों के परिणामों से प्रभावित भी होगे। सफलता में प्रफुल्लित हो जाओगे और असफलता में निराश। लेकिन जब वही कर्म आश्रम में करोगे तो उस कर्म के फल में आसक्त नहीं बनोगे, बल्कि उसे सेवा के रूप में गुरु-चरणों में अर्पित करते रहोगे। तुम्हारे मन में यह विचार रहेगा कि परिणाम गुरुजी जानें, मैं तो सिर्फ काम किए जा रहा हूँ। यदि सफल हुए तो श्रेय गुरुजी को जाएगा, और यदि असफल हुए तो उसका भी श्रेय





गुरुजी को ही जाएगा। तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त रहोगे और तुम्हारा ध्यान सफलता-विफलता के बजाय अपनी प्रतिभा को सर्वोत्तम ढंग से अभिव्यक्त करने में रहेगा।'

आश्रम में कर्म करते समय उसके सकारात्मक, सृजनात्मक पक्ष पर नजर रहनी चाहिए। कर्म नहीं बदलते, केवल उनके प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। इस नयी समझ और दृष्टिकोण के साथ आगे बढ़ते हुए हम अन्त में कर्मों की सभी अड़चनों-गाँठों के प्रति जागरूक हो सकते हैं और एक-एक कर उनसे मुक्त हो सकते हैं। श्री स्वामीजी ने अपने गुरु जी से पूछा था कि कर्म कितने समय तक करना होगा। यह कैसे मालूम पड़ेगा कि मैंने अपने सभी कार्मिक दायित्व पूरे कर लिए हैं? स्वामी शिवानन्द जी ने उनसे कहा, 'कर्मों का अन्त होने पर तुम स्वयं जान जाओगे। रात होने पर तुम अपने आप जान जाते हो कि अब सूरज नहीं है। उसी प्रकार जब तुम कर्मों से मुक्त हो जाओगे, तुम्हें अपने आप मालूम पड़ जाएगा। अगर मैं तुम्हें बाँध दूँ तो तुम्हें मालूम रहेगा कि तुम बँधे हो और जब मैं बंधन खोल दूँगा तो तुम्हें ज्ञात हो जाएगा कि तुम मुक्त हो गए। यह सहज अनुभव की चीज है।' इस निर्देश को हमारे गुरु जी ने भली-भाँति समझा, और फिर कर्मयोग में पूरी तरह संलग्न हो गए।

ऐसे अनेकों संन्यासी हैं, यहाँ पर भी और दुनिया भर में, जो कर्मों का त्याग कर ध्यान लगाने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर ऐसे कई संन्यासी हैं जो आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए रोज घण्टों तक ध्यान लगाने का प्रयास करते हैं, लेकिन फिर भी किसी छोटे-से कर्म या उसकी किसी प्रतिक्रिया से विचलित हो जाते हैं। यह मैं सभी संन्यासियों से कह रहा हूँ–आप सब

के सामने आपके अपने गुरु का आदर्श रहा है, फिर भी आप सबने उनकी जीवनशैली और शिक्षा को नजर-अंदाज किया है। यदि आप अभी तक सच्चाई देख नहीं सके तो आगे भी उम्मीद कम है। यदि आपमें अपने गुरु के प्रेरक जीवन को देखने-समझने की क्षमता है तब आपको वहीं सब उत्तर मिल जाएँगे। मुझे सारे समाधान अपने गुरु के जीवन में मिलते हैं, शास्त्रों में नहीं। जब मैं अपने गुरु के जीवन का अवलोकन करता हूँ, मुझे सारे प्रश्नों के उत्तर स्वत: मिल जाते हैं।

श्री स्वामीजी ने एक बार जब कर्मयोग का मार्ग पकड़ा तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। जब वे यहाँ मुंगेर में थे तब उन्हें ध्यान या योगाभ्यास का समय ही नहीं मिलता था। उन्होंने बीस वर्षों तक योग या ध्यान का अभ्यास उस तरह से कतई नहीं किया जिस तरह से आप लोग कोशिश करते हो। उनका समस्त जीवन ही योगमय था। सन् 1963 से 1983 तक स्वामी सत्यानन्द जी ने योग आन्दोलन की स्थापना और विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्हें मालूम था कि यह सब उनकी व्यक्तिगत तुष्टि के लिए नहीं बल्कि उनके बाह्य कर्मों के क्षय के लिए था। जब गंगादर्शन विश्व योगपीठ की स्थापना हो गई, उन्हें ज्ञात हो गया कि उनके जीवन का एक अध्याय पूरा हो गया है, कर्मों का एक बन्धन छूट गया है। फिर वे इस संस्था को छोड़कर आगे बढ़ गए, कभी वापस मुड़कर नहीं देखा और रिखिया में बस गए। रिखिया में बसने के बाद ही उन्होंने उच्च साधनाएँ और तपस्याएँ कीं। इन साधनाओं को मुंगेर में रहते समय नहीं किया, बल्कि तब किया जब वे जान चुके कि अहंकार, वासना, महत्त्वाकांक्षा, यश और कीर्ति की कामना जैसे उन सभी अवरोधों को पार कर चुके हैं जिन्हें कर्म किसी व्यक्ति के मार्ग में उपस्थित कर सकता है।

मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से आपको बता सकता हूँ कि स्वामी सत्यानन्द जी के समस्त कार्मिक बन्धन सन् 2003 में ही दूर हो चुके थे। सन् 2003 से 2009 तक वे एक जीवनमुक्त की तरह रहे, उनका जीवन किसी प्रकार के कर्म-पाश में बंधा नहीं था। मार्कण्डेय, शुकदेव और दत्तात्रेय जैसे महान् जीवनमुक्तों की परम्परा में एक नाम और जुड़ गया है और वह है स्वामी सत्यानन्द जी का। ये ऐसे लोग हैं जो अपने जीवन के प्रत्येक कर्म-बन्धन से मुक्त हो गए हैं, और समस्त सृष्टि के साथ एकाकार हो गए हैं। अपने समस्त कर्मों का क्षय करके स्वामी सत्यानन्द जी सन् 2003 में ही अपने शरीर का त्याग कर सकते थे। एक बार जब आप अपने सभी कर्मों के बंधन से मुक्त

हो जाते हैं तब आप अनन्त काल तक जीवित रहें या तत्क्षण मृत्यु को बुला लें, आपको यह अद्भुत क्षमता प्राप्त हो जाती है। स्वामी सत्यानन्द जी इन छः वर्षों तक इसलिए जीवित रहे ताकि वे आने वाली पीढ़ियों के लिए शिष्यत्व, संन्यास और साधना का एक महान् आदर्श प्रस्तुत कर सकें।

कर्मों का क्षय कर्मों के द्वारा ही सम्भव है, साधना, ध्यान, मंत्र या तप द्वारा नहीं। जो अपने कर्मों का क्षय नहीं कर पाते, उन्हें साधना और तपस्या के बावजूद संसार में उलझे रहना पड़ता है। कर्म जीवन का सॉफ्टवेयर है, इसके बिना न तुम होते, न मैं होता। न तुम वह सोचते जो अभी सोच रहे हो, न मैं वह बोलता जो अभी बोल रहा हूँ। तुम्हारे जीवन में कोई इच्छा, अभिलाषा या महत्त्वाकांक्षा शेष नहीं रहती।

कर्मों का सॉफ्टवेयर चार भागों में बँटा होता है – मूल प्रवृत्तियाँ, स्वभाव, संस्कार और इन्द्रियाँ। जब कोई व्यक्ति कर्मों के इन चार स्तरों को पार कर लेता है तब वह कर्म के स्थूल बन्धनों से मुक्त हो जाता है। श्री स्वामीजी का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

मूल प्रवृत्तियाँ

कर्मों के प्रथम स्तर में चार मूल प्रवृत्तियाँ आती हैं – आहार, निद्रा, भय और मैथुन। आहार हमारी तुष्टि के लिए जरूरी है। शरीर पोषण चाहता है, मन को पोषण की लालसा रहती है, भावनाएँ पोषण के लिए तरसती हैं। शरीर, मन, इन्द्रियों और भावनाओं को पोषण प्रदान करना ही आहार है। आहार की यह प्रक्रिया जन्म से आरम्भ हो जाती है और जीवन के अन्तिम क्षण तक चलती है। यह प्रवृत्ति सुख, संतुष्टि और संपूर्णता का अनुभव करने की सदा चेष्टा करती रहती है। जीवन में हमारी खोज यहीं तक सीमित रहती है। जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से लपटें और ऊँची उठती हैं, उसी तरह इन्द्रियों, शरीर और मन को आहार देने से कामनाओं की ज्वाला और धधकती है। आहार-अग्नि को शान्त करने का एक ही उपाय है, उस पर एक बाल्टी पानी डाल दो। लेकिन बहुत कम लोग ऐसा करना चाहते हैं।

दूसरी प्रवृत्ति है निद्रा। निद्रा की प्रवृत्ति भी जीवन के प्रथम दिन से अन्तिम दिन तक सक्रिय रहती है। लोग अपने जीवन का पचास प्रतिशत समय सोने में बिताते हैं। इस प्रवृत्ति का जीवन पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ता है। यह भी एक स्वाभाविक कर्म है।

इसी प्रकार भय या असुरक्षा भी एक कर्म है, एक सॉफ्टवेयर है। जब तुम्हारे सुख-चैन में बाधा पड़ने की आशंका होती है, तब भय उत्पन्न होता है। जब भी तुम देखते हो कि तुम कुछ खोने जा रहे हो, असुरक्षा और भय की भावनाएँ उठने लगती हैं। यह एक कर्म है।

मैथुन की प्रवृत्ति भी कर्म का एक अंश है। यह *'एकोऽहम् बहुस्याम्'* की मौलिक भावना से पैदा होती है और वंश-वृद्धि की आवश्यकता से प्रेरित होती है।

ये चार मूल प्रवृत्तियाँ हमारे जीवन के बुनियादी सॉफ्टवेयर हैं, जो जीवन भर हमारे व्यवहार और प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करते रहते हैं। जब ये जीवन में हावी हो जाते हैं तब हम भौतिक विषयों की ओर आकर्षित होते हैं। ये हमारे जीवन को तब तक निर्देशित करते रहते हैं जब तक हम अपने पुराने सॉफ्टवेयर को बदलने में सक्षम नहीं हो जाते।

संक्षेप में

1. आद्य कर्म

सारी सृष्टि एक आद्य कर्म का परिणाम है। यह आद्य कर्म चेतना और शक्ति के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है। चेतना में एक विचार, एक आकांक्षा का उदय होता है। हम सभी उस आद्य विचार, उस आद्य कर्म के परिणाम हैं जो सुदूर अतीत में, सृष्टि के सृजन से भी पहले घटित हुआ। सृष्टि, जीवन, मानव व्यक्तित्व और व्यवहार – ये सभी चेतना और शक्ति की पारस्परिक क्रिया के परिणाम हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति एक ब्रह्माण्डीय स्तर के कर्म से हुई है। हमारी बुद्धि अभी सीमित है। इस वजह से हम उस ब्रह्माण्डीय कर्म के प्रयोजन या प्रासंगिकता को नहीं समझ सकते। सच तो यह है कि उसी आद्य कर्म की वजह से हम यहाँ हैं। देखा जाए तो हम अपने जीवन के वास्तविक नियंता नहीं हैं। सभी संतों और शास्त्रों का यही अंतिम मत है। इसलिए कर्म का तात्पर्य केवल क्रिया से नहीं लगाना। जीवन में जो कुछ भी अनुभव और अभिव्यक्त हो रहा है, वह कर्म है।

2. जीवन का सॉफ्टवेयर

वास्तव में हम कर्त्ता नहीं, मात्र अभिनेता हैं और हम उस बुनियादी सॉफ्टवेयर के अनुसार भूमिका अदा करते हैं जो हमारे जीवन का वास्तविक नियंता है। इस बात का अच्छा उदाहरण है कम्प्यूटर। जब हम कम्प्यूटर खरीदते

हैं तो उसके हार्ड डिस्क में केवल ऑपरेटिंग सिस्टम होता है, दूसरा कोई सॉफ्टवेयर नहीं। कम्प्यूटर लेने के बाद हम अपनी आवश्यकता अनुसार उसमें अलग-अलग सॉफ्टवेयर डाल सकते हैं। अगर तुम फिल्म निर्देशक हो तो तुम्हें फिल्म बनाने वाले सॉफ्टवेयर की जरूरत पड़ेगी। अगर वैज्ञानिक हो तो गणित और विज्ञान सम्बन्धी सॉफ्टवेयर की आवश्यकता होगी। अगर होटल के मैनेजर हो तो होटल चलाने वाला सॉफ्टवेयर चाहिए। इस तरह हम अपनी जरूरत के मुताबिक अलग-अलग सॉफ्टवेयर उपयोग में लाते हैं, लेकिन मूलत: कम्प्यूटर सिर्फ ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ आता है। उसी तरह इस जीवन में भी हम एक ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ आए हैं।

3. ऑपरेटिंग सिस्टम

इस ऑपरेटिंग सिस्टम का पहला अवयव है हमारी चार मूल प्रवृत्तियाँ– आहार, निद्रा, भय और मैथुन, जो जीवन में कर्मों की उत्पत्ति के लिए जिम्मेदार हैं। दूसरा सॉफ्टवेयर है हमारा मौलिक स्वभाव, जो कभी नहीं बदलता। नींबू के पेड़ का स्वभाव है नींबू पैदा करना, केला या आम नहीं। आम के पेड़ पर आम के फल ही आते हैं, संतरे या सेब नहीं। तुम्हारे व्यक्तित्व में जो स्वभाव अन्तर्निहित है वह अभिव्यक्त होकर ही रहेगा। यदि तुम अपने स्वभाव के प्रति सजग हो, उसकी सीमाओं के पार जा पाते हो तो समझो कि तुमने कर्म के एक पक्ष को जान लिया। चाहे तुम घमण्डी हो या विनम्र, सरल हो या जटिल, भौतिकवादी हो या आध्यात्मिक, मजबूत हो या कमजोर, तुम अपना स्वभाव जानते हो। यह तुम्हारे जीवन का एक मुख्य कर्म रहा है।

तीसरा सॉफ्टवेयर है संस्कारों का, जिसे हम जन्म के साथ प्राप्त करते हैं और जो हमारे जीवन का आधार बनता है। जैसे एक कोरे कागज पर पेन्सिल से तुम एक लकीर खींच दो और फिर लकीर को रबर से मिटा दो। मिटा देने से लकीर तो मिट जाएगी पर पेन्सिल का दाग कागज पर रहेगा, वह मिटेगा नहीं। लेखनी मिट गई लेकिन दबाव या दाग नहीं मिटा। इसको कहते हैं संस्कार, जो तुम्हारे अन्दर निश्चित रूप से विद्यमान है, लेकिन तुम उसे देख नहीं सकते। यह भी कर्म है जो तुम्हारे जीवन को बनाने या बिगाड़ने, दोनों में सहायक होता है।

चौथा सॉफ्टवेयर है इन्द्रियों का। इसके अन्तर्गत वे सभी क्रिया-कलाप आते हैं जिनमें सुख, संतोष और परिपूर्णता की खोज में हमारी इन्द्रियाँ अपने

विषय-वस्तुओं से जुड़ती हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ भी मनुष्य के कर्मों का एक अंग बन जाती हैं।



हम अपने शरीर रूपी कम्प्यूटर में इन सबके साथ जन्म लेते हैं। इसके बाद जब जैसी आवश्यकता होती है अलग-अलग सॉफ्टवेयर जुड़ते चले जाते हैं, जिनका चयन हमारी संस्कृति, परम्परा, समाज, परिवार एवं गुरुजनों पर निर्भर करता है। उदाहरण के तौर पर मैं इस जीवन में एक बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ आया पर मेरे गुरु ने उसमें संन्यास का नया सॉफ्टवेयर भर दिया। अब मैं उसी संन्यास-सॉफ्टवेयर का उपयोग कर रहा हूँ, उसी को अभिव्यक्त कर रहा हूँ। मेरा बुनियादी सॉफ्टवेयर मुझे जीवन जीने और अनुभव प्राप्त करने की क्षमता देता है और नया सॉफ्टवेयर मुझे वैसा बनने का मौका देता है जैसा मैं अपने आप को देखना चाहता हूँ। वह मुझे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्रेरित करता है।

4. कर्मों से मुक्ति

क्या इस जीवन में कर्मों से पूरी तरह मुक्त होना सम्भव है? हाँ, सम्भव है। लेकिन मेरे लिए, तुम्हारे लिए नहीं। क्योंकि तुम्हारा मार्ग, तुम्हारी नियति मुझसे भिन्न है। तुम लोग यहाँ कुछ ही दिनों के लिए आए हो, उसके बाद तुम अपनी पुरानी जिन्दगी – यार-दोस्त, घर-परिवार, देश-समाज, नौकरी-पेशा, राग-द्वेष – इन सबमें लौट जाओगे। यहाँ आना तो तुम्हारे लिए सिर्फ मन-

बहलाव है, तुम्हारा वास्तविक जीवन तो बाहर व्यतीत होता है। तुम गृहस्थ हो, संन्यासी नहीं। एक गृहस्थ होने के नाते तुम सिर्फ वहाँ तक पहुँच सकते हो जहाँ तक तुम्हारा मार्ग तुम्हें ले जाएगा, और वह गन्तव्य है एक सद्गृहस्थ का। जब तक दुनिया में हो और दुनियादारी में लगे हो, इससे ज्यादा कोई उम्मीद भी नहीं रखना।

यह मानना कि एक गृहस्थ संन्यासी जैसा बन सकता है, गलत है, अनुचित है। तुम्हारा रास्ता अलग है, मेरा अलग। तुम्हारे अपने सामाजिक दायित्व और कर्त्तव्य हैं। मेरा ऐसा कोई दायित्व नहीं, न तो परिवार के प्रति और न ही धन-सम्पत्ति के प्रति। यह आश्रम भी मेरा नहीं है। मैं इसे तत्काल त्याग सकता हूँ। लेकिन एक गृहस्थ अपने घर को कभी छोड़ नहीं पाता, चाहे वह कितना प्रयास क्यों न करे।

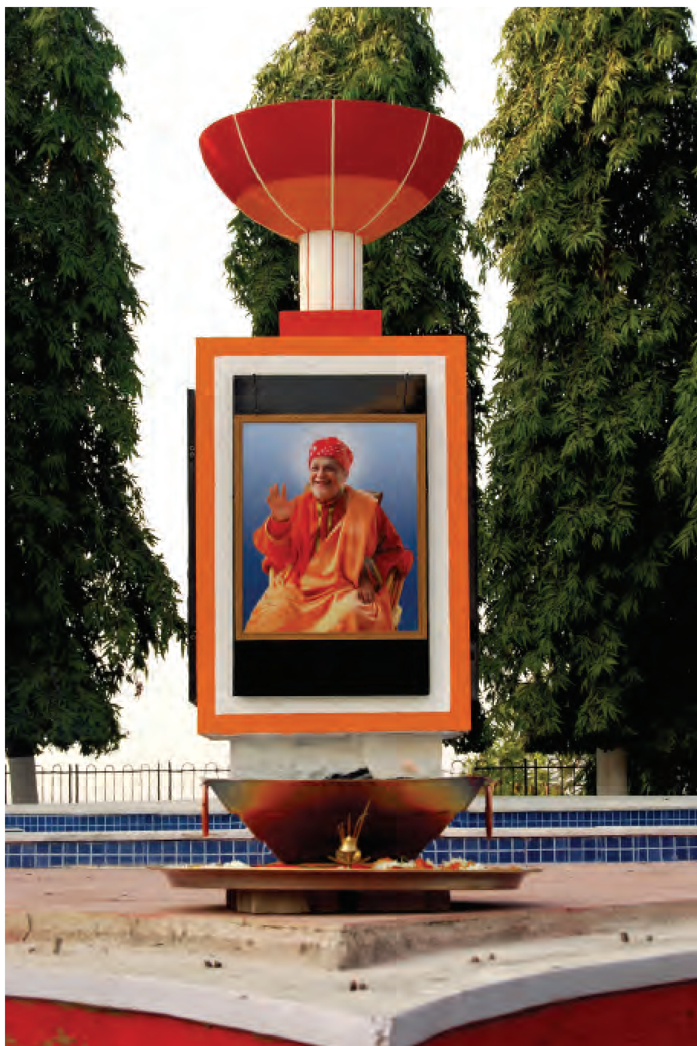
कर्मों से मुक्ति वही पाते हैं जिन्होंने सब चीजों को त्याग दिया है, जिन्हें सब चीजों से विरक्ति हो गई है। उन्हें फिर कुछ भी प्रभावित नहीं करता। जब कर्मों से इस प्रकार की विरक्ति हो जाती है तब दो अवस्थाओं की प्राप्ति होती है–एक है विदेहमुक्ति, इन्द्रियों के बन्धन से मुक्ति और दूसरी है जीवनमुक्ति, जीवन में कर्मों के बन्धन से मुक्ति।

एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में तुम बस इन्द्रिय-जनित आकर्षणों से मुक्ति पा सकते हो, विदेहमुक्ति से आगे नहीं जा सकते। तुम चाहे कितना ही ध्यान लगाओ, कितना ही समय आश्रम में बिताओ, लेकिन जिस परिवेश में तुम रह रहे हो, वह तुम्हें सिर्फ इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होने देगा। जबकि संन्यासी अकेला होता है। न कोई आगे-पीछे, न कोई ऊपर-नीचे। यदि संन्यासी आश्वस्त है, दृढ़प्रतिज्ञ है और समुचित प्रयास करता है, तो वह अवश्य जीवनमुक्ति की अवस्था प्राप्त कर सकता है, क्योंकि गुरु और गोविन्द को छोड़कर उसे इस संसार से बांध कर रखने वाला कोई बंधन नहीं।

स्वामी सत्यानन्द जी ने इस बात को प्रमाणित कर दिखाया। वे अपने कर्मों से सन् 2003 में विमुक्त हो गए थे और अगले छः वर्षों तक उन्होंने एक जीवनमुक्त के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। जीवन का कोई आकर्षण, कोई विषय तब उन्हें बांध नहीं सका।

यह मन की ऐसी अवस्था को दर्शाता है जहाँ अभिनिवेश की भावना, मतलब अपनी पहचान खोने के भय का भी अतिक्रमण किया जा चुका है। कोई भी मरना नहीं चाहता। सभी लोग मृत्यु से डरते हैं। लेकिन वे इस बात को भूल

जाते हैं कि जन्म और मृत्यु जीवन रूपी डोर के दो छोर मात्र हैं। लोग जीवन भर मृग-मरीचिका के पीछे भागते रहते हैं क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के सिद्धान्तों को कभी समझा नहीं। इस बात को अच्छी तरह जान लीजिए कि कर्मों से मुक्ति सम्भव है, प्राप्य है। एक गृहस्थ के लिए विदेहमुक्ति के रूप में और एक संन्यासी के लिए जीवनमुक्ति के रूप में।



गुण और कर्म

26 फरवरी 2010

इस जीवन में हम एक बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ आते हैं जो हमें जीवन की सभी विविधताओं का अनुभव कराता है। इस ऑपरेटिंग सिस्टम के चार घटक हैं, मूल प्रवृत्तियाँ (आहार, निद्रा, भय और मैथुन); स्वभाव; संस्कार तथा इन्द्रियों के क्रिया-कलाप।

गुणों का प्रभाव

ये चारों घटक तीन गुणों – सत्त्व, रजस् तथा तमस् से प्रभावित और निर्देशित होते हें। हमारी मूल प्रवृत्तियाँ, स्वभाव, संस्कार और इन्द्रियों की गतिविधियाँ सात्त्विक हो सकती हैं, या राजसिक या तामसिक या फिर इन तीनों का मिश्रण।

इन गुणों का स्वरूप ब्रह्माण्डीय है और ये हमारे जीवन के बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम की सहायक प्रणाली के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। ब्रह्माण्डीय स्तर पर ये गुण, सृष्टि में निहित सम्भवानाएँ और क्षमताएँ हैं। एक बीज की अन्तर्निहित क्षमता क्या है? किसी बीज को अगर तुम खोलोगे तो तुम्हें उसके अन्दर तना, पत्ते, फूल या फल नहीं दिखेंगे। लेकिन उस बीज को अगर तुम मिट्‌टी में रोप दोगे और उसकी सही देख-भाल करोगे तो कालांतर में वह बीज अंकुरित हो जाएगा। बीज खोलने पर तो अन्दर में तुम केवल शून्यता पाते हो, लेकिन उस शून्यता में एक पेड़ की सम्भावना छिपी रहती है। जब समय और परिवेश अनुकूल होता है तब वह बीज समाप्त हो जाता है

और अंकुर उभर आता है। उसी प्रकार से आध्यात्मिक जागृति के लिए हमारे अन्दर अहंकार के बीज को पहले नष्ट होना है।

जिस तरह बीज में वृक्ष के उगने की सम्भावना रहती है, उसी तरह ब्रह्माण्डीय स्तर पर सृष्टि और जीवन की अनेक सम्भावनाएँ और क्षमताएँ प्रसुप्त रहती हैं। यही गुण कहलाते हैं। लेकिन ब्रह्माण्डीय स्तर पर ये गुण पूर्ण साम्यावस्था में रहते हैं।

गुणों का स्वभाव

इन तीन गुणों का मौलिक स्वभाव या लक्षण क्या है? सत्त्व का लक्षण है प्रकाश, ज्ञान, समझ, सृजनशीलता, सरलता और निष्कपटता। रजस् का स्वभाव है सृष्टि, अभिव्यक्ति, रूपान्तरण, परिवर्तन, गतिविधि तथा क्रिया-कलाप। तमस् का सम्बन्ध शरीर और मन की एक सीमित, प्रतिबन्धित अवस्था से है। हमारे जीवन में जो भी आदतें और पूर्वाग्रह हैं वे तमस् के प्रभाव को दर्शाते हैं।

जब प्रकृति सृजन का कार्य प्रारम्भ करती है और इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है तब एक रूप, एक आकार उभरता है। पहचान रूप या आकार से ही होती है, चाहे वह रूप समस्त सृष्टि का हो या किसी व्यक्ति विशेष का। तुम्हारे बारे में मैं कैसे जानूँगा? जब तुम्हारा रूप, तुम्हारा आकार देखूँगा। जहाँ कोई आकार नहीं होगा वहाँ कल्पना का सहारा लेना होगा, लेकिन कल्पना प्रमाण तो नहीं होता। प्रमाण तो आकार में ही है। वह अवस्था जहाँ रूप और आकार स्थापित होते हैं, तमोगुण की अवस्था होती है। जैसे मिट्टी से एक बर्तन बनता है तो निराकार मिट्टी एक ठोस आकार प्राप्त करती है। तमोगुण नकारात्मकता को नहीं बल्कि एक अवस्था या परिस्थिति के स्थापित होने को इंगित करता है।

यह शरीर रूप और आकार-युक्त होने के कारण तामसिक है। पेड़-पौधे, चाँद-सूरज, ग्रह-नक्षत्र, ये सभी तमस् के द्योतक हैं। जब अव्यक्त तत्त्व प्रकट होता है और एक शरीर, अवस्था या स्थिति को धारण कर लेता है, तब वह तमस् की अभिव्यक्ति होती है। तमस् मात्र एक सीमित अवस्था में आने का द्योतक होता है। यह सीमित अवस्था बाह्य भी हो सकती है और आन्तरिक भी। जब मन किसी एक भावना, संवेदना या विचार से चिपक जाता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, तब यह मन की तामसिक अवस्था है। तमस् को प्राय:



अंधकार के रूप में पारिभाषित किया जाता है। लेकिन सांख्य के अनुसार तमस् अंधकार का नहीं बल्कि एक अवस्था का, एक दशा का प्रतीक होता है।

किसी विशेष अवस्था में आने के लिए जिस प्रयास की आवश्यकता होती है, वह प्रक्रिया रजोगुण की अभिव्यक्ति होती है। यह भवन जो तुम देख रहे हो वह अभी तमोगुण के अधीन है, किन्तु जब यह भवन निर्माणाधीन था उस समय रजोगुण-प्रधान था और जब यही भवन योजना के चरण में था तब सत्त्व गुण की प्रधानता थी। सत्त्व आन्तरिक प्रकाश की अवस्था है, रजस् आन्तरिक क्रिया की और तमस् आन्तरिक स्थायित्व की। ये तीनों गुण अव्यक्त आयाम में परस्पर मिले-जुले रहते हैं और जब एक जीव जन्म लेता है तब ये गुण मूल-प्रवृत्तियों सहित उसके साथ अवतीर्ण होते हैं।

ये तीनों गुण प्रत्येक वस्तु में निहित होते हैं और इनकी पहचान उस वस्तु द्वारा अभिव्यक्त कर्मों से की जा सकती है। श्री स्वामीजी एक चाकू का

उदाहरण दिया करते हैं। चाकू दैनिक जीवन में काम आने वाली सामान्य वस्तु है लेकिन उस चाकू का उपयोग तुम्हारे चरित्र के गुणों को उजागर करता है, क्योंकि जब तुम चाकू को अपने हाथ में पकड़ते हो तब वह तुम्हारे शरीर का ही एक अंग बन जाता है। चाकू के भिन्न-भिन्न प्रयोगों के अनुसार भिन्न-भिन्न चरित्र उजागर होंगे। यदि तुम उसका उपयोग किसी को जान से मारने के लिए करते हो तब चाकू का प्रयोग तामसिक माना जाएगा। यहाँ तमस् एक नकारात्मक प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। अगर तुम चाकू से शल्य-क्रिया करके किसी की जान बचाते हो, तब यह सत्त्व गुण को दर्शाता है, जो जीवन का पालन-पोषण करता है। और जब तुम चाकू का उपयोग अपने भोजन के लिए सब्जी काटने में करते हो तब राजसिक गुण का बोध होता है। चाकू अपने में उपकरण मात्र है, उपयोग और प्रयोजन के अनुसार उसके अलग-अलग गुण प्रकट होते हैं।

पुरुष और प्रकृति, ये समस्त सृष्टि का सृजन करने वाले दो ब्रह्माण्डीय तत्त्व हैं और इन्हीं से हमें शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और भावनाओं की यह सुन्दर व्यवस्था उपहार स्वरूप प्राप्त हुई है। इस उपहार में ये तीन गुण भी शामिल हैं। ये तीनों गुण हमारे ऑपरेटिंग सिस्टम के चारों घटकों के साथ घुल-मिलकर इस संसार के साथ हमारा व्यापार शुरू करते हैं।

गुणों की अभिव्यक्ति

ब्रह्माण्डीय स्तर पर ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। किन्तु जब जीवन का प्रादुर्भाव होता है तब एक गुण प्रधान हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि ऐसा क्यों होता है? *'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'* का सिद्धांत यहाँ लागू क्यों नहीं होता? इसका कारण यह है कि हमारे प्रारब्ध के रूप में साथ आने वाले संस्कार जीवन में किसी एक गुण की प्रधानता को निश्चित करते हैं। यह मात्र दार्शनिक विचारधारा नहीं है, आज विज्ञान और मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है। जीव तो परमात्मा का सनातन अंश है – *ईश्वर अंश जीव अविनाशी*। यदि जीव अविनाशी है, परमात्मा का अंश है, तो वह भी मुक्त है, स्वतंत्र है। किन्तु जब वह प्रकृति में प्रवेश करता है तब वह अपनी गठरी को साथ लेकर आता है। एक शहर से दूसरे शहर तक यात्रा करते समय क्या तुम अपने झोले-झण्डे को साथ लेकर नहीं चलते? तब फिर आत्मा अपनी अनंत यात्रा में कुछ साजो-सामान के साथ नहीं चलेगी क्या?

घर में रहने पर झोले की आवश्यकता नहीं पर यात्रा के समय तो आवश्यकता पड़ती है। आत्मा की झोली में जो सामान है वह है इन्द्रियाँ और मन। हर प्राणी का मन होता है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में केवल इतना अंतर है कि मनुष्य अपने मन के प्रति सजग है, अन्य प्राणी सजग नहीं हैं। यह सजगता बुद्धि के माध्यम से होती है। बुद्धि द्वारा ही हम अपने मन का, सुख-दु:ख का, कर्मों और उनकी प्रतिक्रियाओं का अनुभव करते हैं।

जब मन और आत्मा प्रकृति में उतरते हैं, वे तीन गुणों के अधीन हो जाते हैं। इन गुणों को इन्द्रियों के क्रिया-कलापों में देखा जा सकता है। इन्हें संस्कारों में भी देखा जा सकता है, चरित्र की महानता के रूप में या दुर्बलता के रूप में। स्वभाव में ये आशा, निराशा या उदासीनता के रूप में परिलक्षित होते हैं। और इन्हें मूल प्रवृत्तियों में भी देखा जा सकता है।

दृष्टांत के लिए काम भावना का उदाहरण लेते हैं। यदि इस भावना में सत्त्व की प्रधानता होगी तो यह व्यक्ति का उत्थान करेगी। यदि काम-वासना में तमस् प्रधान रहा तो वह व्यक्ति को निम्न प्रवृत्तियों में खींच ले जाएगी और यदि रजस् की प्रबलता होगी तब वह गुण कामुक और लम्पट स्वभाव में परिलक्षित होगा।

लोभ की भावना में यदि तमस् प्रधान होता है तब मनुष्य स्वार्थी, संकीर्ण और लोलुप बन जाता है। और यदि व्यक्तित्व सत्त्व-प्रधान रहा तब तो लोभ रहेगा ही नहीं। किसी वस्तु के प्रति आकर्षण की सजगता तो रहेगी लेकिन उसे प्राप्त कर लेने की प्रबल इच्छा नहीं रहेगी।

इसी प्रकार, सत्त्व-प्रधान और तमो-प्रधान निद्रा का स्वरूप अलग होता है। भय और असुरक्षा के भी तामसिक, राजसिक और सात्त्विक पक्ष होते हैं। ये गुण जीवन के बुनियादी ढाँचे से जुड़कर एक नयी पहचान, एक नयी अभिव्यक्ति, एक नये अनुभव को जन्म देते हैं।

अगर तुम चिन्तित, हताश या उदास हो तो यह एक ऐसी मन:स्थिति का द्योतक है जो तामसिक और हानिकारक है, तुम्हारे लिए और दूसरों के लिए भी। यदि तुम्हारे जीवन में हर्ष और उल्लास है, सब कुछ सुनहरा और आशाजनक प्रतीत होता है, तब सत्त्व की यह अभिव्यक्ति केवल व्यक्तिगत ही नहीं रहती, चारों ओर फैलती भी है। गुण इन्द्रियों और मन को प्रभावित करते हैं, उन्हें निर्देशित करते हैं। गुणों की शक्ति मन के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। हमारी मनोदशा तीनों गुणों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। जब मन किसी एक गुण

के साथ जुड़ता है तब सोच बदल जाती है, व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। गुण पहले मन में अभिव्यक्त होते हैं, फिर कर्म और व्यवहार में।

इच्छा, कर्म ओर मनोवृत्ति

मन का पहला काम है किसी इच्छा को जन्म देना। इच्छा के बिना मन का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। अपनी दैनिक गतिविधियों का विश्लेषण करोगे तो पाओगे कि प्रत्येक क्रिया के पीछे एक इच्छा रहती है। इच्छा मन की प्रथम अभिव्यक्ति है और यह अपनी ओर अभिमुख होती है – 'मैं उपलब्धि चाहता हूँ, मैं कुछ प्राप्त करना चाहता हूँ, मेरी यह आवश्यकता है।'

इच्छा के बाद दूसरा चरण आता है कर्म का। जब मन में इच्छा स्पष्ट होती है तब जो भी कर्म किए जाते हैं उनका लक्ष्य इष्ट फल की प्राप्ति होता है। जीवन इच्छाओं और कर्मों का खेल मात्र है। इन दोनों के परे और कुछ नहीं। छोटी-बड़ी सैकड़ों चीजों की हम कामना करते हैं। किसी चीज की चाहे आवश्यकता हो या महत्त्वाकांक्षा, आखिर है तो इच्छा ही।

हर क्षण मन में कोई-न-कोई गुण प्रधान होता है। मन में जो इच्छाएँ उठती हैं वे उस गुण के अनुरूप होती हैं। बाहरी वातावरण भी प्रबल इच्छाओं को



जन्म दे सकता है। यदि तुम एक डांस-क्लब में जाते हो, तो वहाँ का गाना-बजाना सुनकर तुम्हारी इन्द्रियाँ अपने आप थिरकने-मचलने लगेंगी, मन उत्तेजित हो जाएगा और अपनी उत्तेजना बढ़ाने के लिए हो सकता है तुम नशे में धुत्त भी हो जाओ। यह नशा तुम अपने तनावों से मुक्ति के लिए, हल्का अनुभव करने के लिए चाहते हो। दूसरी तरफ यदि तुम एक शान्त वातावरण में प्रवेश करते हो तो तुम्हारी इन्द्रियाँ अपने आप स्थिर हो जाएँगी।

किसी वातावरण विशेष में प्रवेश करने पर मनोदशा बदल जाती है, क्योंकि दिमाग में पहुँचने वाली संवेदनाएँ अलग होती हैं। किसी व्यवहार या प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति में वातावरण की एक अहम भूमिका होती है, क्योंकि वातावरण से ही उस व्यवहार के लिए आवश्यक मनोदशा तैयार होती है। एक निराश, नकारात्मक, विषादयुक्त परिवेश में कर्मों का सही ढंग से संपादन नहीं हो पाएगा। मन, विचार और कर्म नकारात्मक हो जाएँगे। पहले के सुन्दर, सकारात्मक अनुभवों से मन का सम्पर्क छूट जाएगा। ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की सहायता नहीं की जा सकती। जो भी सहायता दी जाती है, व्यर्थ हो जाती है। व्यक्ति के क्रिया-कलाप, उसकी बुद्धि, भावनाएँ और इन्द्रियाँ सभी प्रभावित होते हैं। इसके विपरीत यदि कोई आशावादी और प्रसन्नचित्त है तो यह अवस्था मन को, इन्द्रियों को, भावनाओं को प्रभावित करेगी। इसलिए हमेशा खुश रहा करो। हर चीज के सकारात्मक पक्ष को देखो, क्योंकि तुममें यह क्षमता है।

प्राय: लोग जीवन में नकारात्मकता ही देखते हैं। लेकिन जैसे तुम नकारात्मकता देख सकते हो, वैसे ही सकारात्मकता भी। यदि तुम नकारात्मकता के साथ जुड़ते हो तो अपने आपको जीवन की खुशियों से दूर करते हो और यदि तुम सकारात्मकता के साथ तादात्म्य स्थापित करते हो तो तुम जीवन की परिस्थितियों की बेहतर और स्पष्ट समझ प्राप्त करोगे। मैंने अपने गुरु जी के जीवन में यही पाया है कि चाहे जैसे भी परिस्थिति रही हो, उनका दृष्टिकोण हमेशा रचनात्मक और सकारात्मक रहता था। विपरीत परिस्थितियों में भी वे सुनहरी सम्भावनाएँ देखकर यह जान जाते थे कि किस प्रकार उस स्थिति को सुधारा जाए। यही व्यक्ति के चरित्र का लक्षण है जो दर्शाता है कि उसने अपनी मनोवृत्तियों, इन्द्रियों और भावनाओं पर विजय पा ली है।

मन में एक इच्छा प्रकट होती है और वहीं से कर्म की शुरुआत होती है। यह इच्छा किसी वस्तु विशेष और उसकी प्राप्ति से जुड़ी होती है। इच्छा की

पूर्ति के लिए एक योजना, एक कार्यक्रम बनता है और व्यक्ति उसे क्रियान्वित करने की तैयारी करता है। लेकिन यदि मन में कोई दूसरा गुण हावी हो जाता है तो वह प्रयास विफल हो जाता है, क्योंकि कर्म का स्वभाव, उसकी प्रकृति बदल जाती है। किसी व्यक्ति का दिन खराब चल रहा हो तो वह साधारण-से-साधारण काम भी बिगाड़ कर रख देगा। लेकिन अगर मन शान्त और स्थिर है, तो कठिन-से-कठिन कार्य भी कुशलता के साथ सम्पन्न हो जाएगा। जब गुण और मन मिलते हैं तब एक मनोदशा उभरती है और कर्म का सम्पादन उसी मनोदशा के अनुसार होता है।

कर्म के फल

जब ये तीन गुण जीवन के ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ मिलते हैं तब वे कर्मों के रूप में व्यक्त होते हैं और तीन प्रकार के परिणाम देते हैं। जो कर्म सत्त्व गुण से युक्त होगा वह सकारात्मक फल देगा। जो कर्म तमोगुण के साथ आएगा वह नकारात्मक फल उत्पन्न करेगा। और तीसरा है मिश्रित फल, जिसका प्रभाव दो तरफा होता है – यह उन्नति की ओर भी ले जा सकता है और अवनति की ओर भी।

हम अच्छा बनने की कामना करते हैं लेकिन यह जानते नहीं कि अच्छा कैसे बना जाए। हमारे लिए 'अच्छे बनने' का तात्पर्य केवल बाह्य कर्मों की अच्छाई से रहता है। लेकिन योग में अच्छाई का सम्बन्ध मन से है। यदि मन की सोच सही है तो बाह्य कर्म अपने आप अच्छे होंगे।

कर्मयोग के व्याख्याकार अक्सर कहा करते हैं कि हमें प्रत्येक कर्म को कुशलता से करना चाहिए और उसके फल की कोई आशा नहीं रखनी चाहिए। लेकिन अगर हम जीवन की यथार्थता को देखें तो पाएँगे कि किसी में कर्म के फलों को उपेक्षित करने का सामर्थ्य नहीं।

जहाँ भी कर्म होता है वहाँ स्वाभाविक रूप से एक अच्छे परिणाम की अपेक्षा रहती ही है। हालाँकि कहा तो यही जाता है कि अपने कर्त्तव्य को करते जाओ, परिणामों की अपेक्षा मत करो, मगर वास्तव में हम सभी परिणामों की ओर नजरें टिकाये हुए हैं। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन* – 'तुम्हें सिर्फ कर्म करने का अधिकार है, उसके फलों पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं,' यह बात श्रीमद्भगवद् गीता में कही गई है। यह बात कहने का अधिकार भगवान श्री कृष्ण को हो सकता है, लेकिन तुम्हें हरगिज यह अधिकार नहीं।

तुम किस आधार पर ऐसा कह सकते हो? क्या तुमने इस मान्यता को अपने जीवन में उतारा है? फल की आशा तो सभी को रहती है, एक आध्यात्मिक साधक को भी। कोई साधु भी अगर कहे कि उसे फल की कामना नहीं तो गलत बोल रहा है। कोई जप करता है तो एक अनुभूति के लिए, कोई ध्यान लगाता है तो दर्शन के लिए। तुम्हारे अपने जीवन में अनेकों अपेक्षाएँ रहती हैं, लेकिन दूसरों को अपेक्षा-रहित बनने की सीख तुम देते हो क्योंकि गीता में ऐसा लिखा है, क्योंकि गुरुओं और आचार्यों ने ऐसा कहा है! प्रत्येक मनुष्य फल की चाह रखता है। यह एक सामान्य मानसिक अवस्था है। फिर हम किस मुँह से किसी को कहें कि फल की आशा मत करो।

फल की आशा रखने में कुछ गलत नहीं। गलत है उसके प्रति आसक्त हो जाना, सनकी हो जाना। जब हम आसक्त हो जाते हैं तब सुख और दुःख, दोनों प्राप्त होते हैं। जब सुख मिलता है तब हम सुख के स्रोत की ओर आकर्षित होते हैं। *सुखानुशयी रागः* – हम उन अवस्थाओं, परिस्थितियों और वस्तुओं की ओर आकृष्ट होते हैं जो हमें सुख और आनन्द की अनुभूति करा सकती हैं। यही राग है। दूसरी ओर हम उन अवस्थाओं के प्रति घृणा और द्वेष करते हैं जो हमें दुःख पहुँचाती हैं। दुःख और कष्ट से हमें भय होता है, उन्हें हम भोगना नहीं चाहते। *दुःखानुशयी द्वेषः* – उन परिस्थितियों से हम विमुख हो जाते हैं जो दुःख का कारण बनती हैं। इस प्रकार हमारे अन्दर जो आसक्ति होती है, वह उस फल के लिए होती है जिससे हम सुख प्राप्त कर सकें और अगर फल से दुःख उत्पन्न होगा तो हम उससे बचने का प्रयास करते हैं।

सफलता और विफलता, दोनों को हमें स्वीकार करना है। जब कोई विफल होता है तो अक्सर कहता है कि भगवान की यही मर्जी थी ओर जब वह सफल हो जाता है तो कहता है कि यह उसकी अपनी उपलब्धि है। सफलता को अपनी उपलब्धि बताना मन की तामसिक वृत्ति को दर्शाता है। अपनी असफलता को भगवान के सिर मढना भी एक नासमझी भरी तामसिक स्थिति को दर्शाता है, क्योंकि तुम अपने कर्मों की जिम्मेदारी उठाने को तैयार नहीं हो। इसलिए दोनों को स्वीकार करो। जिस प्रकार हम दिन और रात को स्वाभाविक घटनाएँ मानते हैं, उसी प्रकार सफलता और विफलता भी जीवन की स्वाभाविक घटनाएँ हैं।

कर्मों के शुभकारी और लाभदायक परिणामों की आशा अवश्य रखो, लेकिन उनसे आसक्त मत बनो। जब तुम्हारे ऊपर सनक सवार हो जाती है

तब तुम अपनी सजगता, अपनी रचनात्मकता खो बैठते हो। तुम्हारा दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। अगर एक नली के अन्दर से संसार को देखोगे तो सीमित दृश्य ही देख पाओगे। सनक में ऐसा ही होता है, मन एक ही चीज से चिपक जाता है। विषाद में लोग सिर्फ दु:ख के बारे में सोचते हैं, और उल्लास में सिर्फ सुख के बारे में। ये सभी व्यवहार संकीर्ण-दृष्टि के द्योतक हैं।

जब भी कोई कर्म करो, उसे ठीक से करो। उसके फलस्वरूप तुम्हें जो कुछ भी मिलना होगा वह तुम्हें मिलेगा। पानी पियोगे तो प्यास जरूर बुझेगी। पूरी एक बाल्टी पानी पीने की आवश्यकता नहीं, एक गिलास ही पर्याप्त है। जहाँ तक मेरे अपने जीवन का सम्बन्ध है, मैं उस मार्ग पर चलना चाहता हूँ जिसपर चलने के लिए मुझे निर्देशित किया गया है। यह भी तो एक अपेक्षा है जो मुझे अपने आप से है। परिस्थितियाँ आती-जाती हैं, लेकिन अपेक्षाएँ किसी-न-किसी रूप में सदा बनी रहती हैं। जिस चीज का हमें ख्याल रखना है वह है फल के प्रति आसक्ति। अपने कार्यों को सजगतापूर्वक करते जाओ और सफलता-विफलता, हानि-लाभ पर ध्यान मत दो। अगर तुम अपने आप को सफलता और असफलता के बीच संतुलित कर पाओगे, तो वह जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि होगी। भगवद् गीता में श्री कृष्ण ने कहा है – *सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते* – सिद्धि और असिद्धि में, सफलता और असफलता में मन को संतुलित रखना ही योग है।

तुम अपने प्रयासों में सफल होते हो या नहीं, पर हमेशा द्रष्टा भाव बनाए रखो और अपने जीवन में समत्व की स्थिति को उत्पन्न होने दो। समत्व की यही अवस्था योग कहलाती है। जब मन संतुलित और संतुष्ट होता है तब तुम आनन्द का अनुभव करते हो। इसलिए सफलता और विफलता के पाश से अपने आपको मुक्त रखो। परिणाम पर नजर रखते हुए कर्म जरूर करो पर उस परिणाम से आसक्त मत हो जाओ।

जब तुम किसी परिणाम पर नजर रखते हो तो वह तुम्हारा लक्ष्य बन जाता है। अगर मैं एक अच्छा संन्यासी बनना चाहता हूँ, तो मुझे एक परिणाम की अपेक्षा है। यह अपेक्षा मेरे जीवन का लक्ष्य और प्रयोजन बन जाती है, जो मुझे पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित करती है। यदि मैं आज इस अपेक्षा को यह कहकर त्याग दूँ कि 'जो कुछ होना है, वह होकर रहेगा' तो मैं कभी अपने निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर नहीं हो पाऊँगा। अनेकों व्यवधान आ जाएँगे।

इसलिए हम सभी के लिए उचित यही है कि हम किसी अपेक्षा, किसी लक्ष्य को लेकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ें और मार्ग में आने वाली सफलता या विफलता से विचलित न हों।

मध्यम मार्ग

आध्यात्मिक परम्पराएँ मध्यम मार्ग अपनाने के लिए कहती हैं। भगवान बुद्ध ने भी मध्यम मार्ग का ही प्रतिपादन किया था। जब तुम सड़क के न दायीं ओर चलते हो, न बायीं ओर, बल्कि ठीक बीचोबीच रहते हो, तब तुम दोनों ओर ध्यान रख पाते हो।

उपनिषदों ने इस मध्यम मार्ग को छुरे की धार के समान तीक्ष्ण और दुष्कर बताया है – *क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया*। इस मार्ग पर अत्यन्त सावधानी से चलना है, थोड़ी-सी भी चूक होने पर तुम गिरकर लहू-लुहान हो जाओगे। अगर तुम्हारा ध्यान लक्ष्य से हटता है तो तुम्हारी यात्रा वहीं थम जाती है। तुम्हारा प्रयोजन, तुम्हारी प्रेरणा शिथिल पड़ जाती है और तुम आगे नहीं बढ़ सकते। चाहे तुम दायीं ओर फिसलो या बायीं ओर, तुम्हारी यात्रा तो वहीं-की-वहीं समाप्त हो जाती है। लेकिन अगर तुम अपना संतुलन और समत्व बनाए रखते हुए, सावधानी और सजगता के साथ चलते रहो, तो अवश्य अपनी यात्रा पूरी कर लोगे। इसलिए समत्व जीवन का सबसे बड़ा गुण है। जब यह गुण जीवन में प्रबल हो जाता है तब व्यक्ति न अपनी इच्छाओं से प्रभावित होता है और न कर्मों के फल के लिए कोई ललक या सनक रह जाती है। जीवन सुन्दर, सहज और संतुलित हो जाता है।

इसका अर्थ यह है कि हमें अपने मन की आदतों को बदलना होगा। बचपन में हम एक तरह की चीजों के लिए लालायित रहते हैं, बड़े होने पर हम दूसरी चीजों की लालसा रखते हैं। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं, संसार के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है, हम अनुभवी और परिपक्व होते जाते हैं। जीवन की हर परिस्थिति में अपनी इच्छाओं और उन्हें पूरा करने की लालसा के प्रति सजग रहने का, उन्हें समझने का प्रयास करना चाहिए। इच्छा-पूर्ति की लालसा ही सुख या दु:ख का कारण होती है और इसी वजह से हमारी सजगता स्वयं के प्रति केन्द्रित रहती है। लोग इतने आत्म-केन्द्रित हो जाते हैं कि वे अपनी कमजोरियों से छिपने का प्रयास करते हैं। यहाँ तक कि वे अपने भीतर के ज्ञान और प्रकाश से भी मुँह छिपाते हैं।

इस संसार में अगर कोई ऐसी वस्तु है जिससे हर मनुष्य भयभीत रहता है, तो वह है उसकी अपनी अन्तरात्मा का ज्ञान और प्रकाश। सभी प्रकाश की कामना करते हैं किन्तु जब प्रकाश से सामना होता है तब वे कहते हैं, 'बस, बस, बहुत हुआ!' अर्जुन के साथ ऐसा ही हुआ था। उसने युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण से अनुरोध किया, 'मुझे अपने ब्रह्माण्डीय स्वरूप का दर्शन कराइये।' और जब श्रीकृष्ण ने अपने विराट् स्वरूप को प्रकट किया तो अर्जुन बोल उठा – 'बस, बस! अब अपने सामान्य रूप में आ जाइए। मैं उसी रूप को ज्यादा पसन्द करता हूँ, क्योंकि वह मेरे जैसा है, उसे मैं समझ सकता हूँ। आपके इस देदीप्यमान्, विराट् स्वरूप के प्रकाश में मेरी आँखें चौंधिया रही हैं, यह मेरी समझ के बाहर है।'

तीनों गुण कर्म के साथ जुड़ते हैं और सुख-दुःख के अनुभवों को जन्म देते हैं। हम लोग सुख और दुःख को सफलता और विफलता के साथ जोड़ते हैं। पर इन दोनों में संतुलन पाना ही योग है। कर्मों की सफलता और विफलता में भी यदि समभाव बना रहे तो यह कर्मयोग का परिचायक है। यदि सफलता और विफलता में बुद्धि का संतुलन बना रहता है तो यह ज्ञानयोग है। विषयों की ओर प्रवाहित हो रही तुम्हारी भावनाएँ जब ईश्वराभिमुख होने लगती हैं, जब उनमें संतुलन आता है तो यह भक्तियोग की शुरुआत है। और अगर यह संतुलन का सिद्धान्त तुम अपने शरीर पर आजमाओगे तो तुम हठयोग में प्रवीण हो सकोगे।

संतुलन किसी विशेष योग का अभ्यास नहीं, बल्कि मन की एक अवस्था है। योग का प्रारम्भ संतुलन और समत्व की प्राप्ति से होता है। आसन और प्राणायाम शारीरिक अभ्यास हैं, बाह्य साधना के अंग हैं। आन्तरिक साधना का सम्बन्ध समत्व की प्राप्ति से होना चाहिए, जिसके लिए तुम जप, अंतर्मौन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी योग या क्रिया योग जैसी विधियाँ अपना सकते हो। फिर एक समय ऐसा आता है जब हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है और हम अपने कर्मों को योग से जोड़ पाते हैं।

कर्मयोग सिद्ध करने के लिए तुम्हें पहले मन, गुणों, मनोदशाओं, सुख और दुःख को समझना होगा। श्री स्वामीजी कहते हैं कि कर्मयोग हमें मन की प्रतिक्रियाओं से अप्रभावित रहना सिखाता है। विभिन्न परिस्थितियों में मन में जो अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, उनसे स्वतंत्र रहो। एक नकारात्मक भावनात्मक प्रतिक्रिया से तुम्हें दुःख होता है, इसलिए

कष्ट भोगते समय भी भावुक मत बनो। जैसे ही तुम भावुक बनते हो, तुम्हारी मनोदशा बदल जाती है और तुम मानसिक स्पष्टता और सूझ-बूझ खो देते हो। लेकिन अगर तुम अपना संतुलन बनाए रख सको तब तुम्हारी मनोदशा बदलेगी नहीं और तुम परिस्थिति को सम्भाल सकोगे। अगर तुम्हें कोई चपत लगाता है और तुम अपना संतुलन बनाए रखते हो, तब तुम दूसरे व्यक्ति को यह साबित कर सकोगे कि उसने चपत लगाकर गलती की और वह भी इस बात को समझ जाएगा। लेकिन अगर तुम उल्टा एक चाँटा मार देते हो तो तुम केवल झगड़े में उलझोगे जिसमें वही जीतेगा जो ज्यादा ताकतवर होगा। इसलिए यह जरूरी है कि हम अपने मन, भावनाओं और इन्द्रियों की प्रतिक्रियाओं को सम्भाल सकें। तभी हमारे कर्म कर्मयोग में बदल सकेंगे।

समभाव प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य अपने आप को विषय-सुख की कामनाओं से मुक्त रख सकता है और इस प्रकार वह दुःख और कष्ट के अनुभवों से भी मुक्त हो जाता है। कर्मों के परिणाम जो भी हों, उनसे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि वे तुम्हारे नियंत्रण के बाहर हैं। हाँ, इतना जरूर है कि नकारात्मक कर्म का नकारात्मक परिणाम और सकारात्मक कर्म का सकारात्मक परिणाम होगा।

जीवन के अनुभव

लोग कर्म को क्रिया और प्रतिक्रिया के सिद्धान्त के रूप में पारिभाषित करते हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया का विधान तो वस्तुओं का अन्तर्निहित स्वभाव है ही। अगर तुम अपने हाथों से ताली बजाओगे तो आवाज तो पैदा होगी ही। दोनो हाथों को एक साथ लाने को क्रिया कह सकते हैं और ध्वनि की उत्पत्ति को प्रतिक्रिया। क्रिया और प्रतिक्रिया तुम्हारी स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं।

कर्म सिर्फ क्रिया और प्रतिक्रिया का वह विधान नहीं जिसके तुम अधीन हो, बल्कि कर्म वस्तुतः जीवन है। जीवन के अनुभव कर्म हैं और जीवन के अनुभवों की जानकारी ज्ञान है। दोनों में यही अन्तर है। जहाँ तक क्रिया और प्रतिक्रिया का सवाल है, याद रखो कि हर कारण में एक परिणाम की सम्भावना अन्तर्निहित होती है। जिस प्रकार शरीर में छाया छिपी रहती है, उसी प्रकार प्रत्येक कारण के अन्दर उसका परिणाम छिपा होता है। छाया शरीर का



अंश है, यह शरीर से ही अपना आकार धारण करती है, लेकिन इसे देखने के लिए प्रकाश में आना पड़ता है। इसी तरह हर कारण में एक परिणाम निहित है और वही है कर्म। क्रिया और प्रतिक्रिया कर्म नहीं, वे कर्म की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रत्येक हेतु में, कारक में एक परिणाम छिपा होता है। यह शरीर एक कारक है, यह मन एक कारक है। इनका परिणाम शरीर और मन में ही छिपा है। यही छिपा हुआ परिणाम इच्छा है, कामना है, तृष्णा है।

कर्मों का प्रबन्धन

आध्यात्मिक शास्त्रों एवं परम्पराओं का कहना है – 'अपने कर्मों को सुधारो।' इस निर्देश का क्या तात्पर्य है?

कर्मों को व्यवस्थित करने के लिए जीवन के बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम को जानना होगा और यह समझना होगा कि उसमें कौन-सा सॉफ्टवेयर प्रबल है। हर व्यक्ति के जीवन में कोई एक वृत्ति अन्य वृत्तियों से प्रबल होती है। मैं अपने जीवन को देखता हूँ तो पाता हूँ कि मेरे जीवन में कोई भय या असुरक्षा नहीं, कोई सनकी वासनाएँ या कामनाएँ नहीं, कोई प्रबल तृष्णा भी नहीं।

कोई समस्या अगर रही तो वह थी निद्रा वृत्ति की। बचपन में जब मैं सो जाता था तब मेरे गुरु-भाई मुझे चौकी समेत उठाकर आश्रम के बाहर डाल आते थे। क्या हो रहा है, मैं इससे पूरी तरह अनजान रहता था। जगने पर अपने आप को आश्रम के द्वार पर पाता था। नींद मेरी कमजोरी थी। मेरे गुरु जी ने मेरी इस कमजोरी का उपयोग किया। उन्होंने योग निद्रा की अवस्था में मुझे प्रशिक्षित किया। उन्होंने मेरी कमजोरी को ताकत में बदल दिया।

जहाँ तक जगने का सवाल था मुझे इसके लिए खुद मेहनत करनी पड़ी। मैंने अपने सोने और जगने के समय का कुछ दिनों तक अवलोकन किया। फिर जल्दी जागने के लिए सबसे पहले मैंने अलार्म घड़ी को सुबह चार बजे के लिए सेट किया और संकल्प लिया कि कल से मैं प्रात: चार बजे जग जाऊँगा। दो दिनों तक मैंने वैसा किया भी लेकिन तीसरे दिन मैंने अलार्म की घंटी तक नहीं सुनी। अगले दिन भी वैसा ही हुआ।

मैंने अपने आपसे कहा, 'ऐसे बात नहीं बनेगी। जरूरत से ज्यादा नींद मुझे सुस्त, आलसी और तामसिक बना रही है। इसे ठीक करने के लिए मैं क्या करूँ?' इस बार मैंने अलार्म को एक सप्ताह तक अपने जगने के सामान्य समय से दस मिनट पहले याने 6.50 के लिए सेट किया। फिर अगले सप्ताह मैंने इसे 6.40 पर सेट किया। फिर 6.30, 6.20, 6.10... और कुछ महीनों के अन्दर मैं 4 बजे तक आ गया। यह परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ, तत्काल सिद्ध कर लेने के किसी कठोर संकल्प के आधार पर नहीं। मुझे अहसास हो गया था कि मैं ऐसे किसी कठोर प्रण को निभा भी नहीं पाऊँगा, क्योंकि मेरा मन कमजोर था। अगर मन कमजोर न होता तो यह समस्या ही न आती। मैं इस वृत्ति का सीधे सामना करने में असमर्थ था, इसलिए मैंने अपने मन की आदत को बदलने के लिए एक युक्ति लगाई। अलार्म घड़ी की सूई को हर हफ्ते कुछ मिनट खिसकाता रहा। इसलिए मेरे संकल्प की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आयी। यदि मैंने कोई अन्य प्रक्रिया अपनाई होती तो अपने आपको कभी प्रशिक्षित नहीं कर पाता। मैं आज तक उसी वृत्ति से जूझ रहा होता।

जीवन के कर्मों, अनुभवों और आदतों को इसी प्रकार व्यवस्थित करना पड़ता है। कुछ लोगों के जीवन में आहार-वृत्ति की प्रधानता होती है। हर पाँच मिनट में वे कुछ-न-कुछ खाने-पीने रसोईघर जाया करते हैं। वे अपनी आन्तरिक तृष्णा को सम्भालना नहीं जानते, इसलिए वे इस तृष्णा की पूर्त्ति

भोजन से करने की कोशिश करते हैं। कुछ-न-कुछ खाते रहना उनकी आन्तरिक तृष्णा के प्रति एक मानसिक प्रतिक्रिया है जिसे वे स्वयं समझ नहीं पाते। यदि वे समझते तो बार-बार रसोईघर का रास्ता नहीं पकड़ते। तृष्णा जब अचेतन स्तर पर रहती है तब वह भोजन के प्रति आकर्षण के रूप में प्रकट होती है। भोजन पोषण का साधन है, और तृष्णा का पोषण तो किसी प्रकार से करना ही है। यदि वह तृष्णा मानसिक है तो भी हम उसका पोषण भोजन से करने का प्रयास करते हैं।

शारीरिक और मानसिक तृष्णाओं के अलावा भावनात्मक तृष्णाएँ और लालसाएँ भी होती हैं। उदाहरण के तौर पर जो लोग स्वभावतः व्यभिचारी होते हैं, उनकी तृष्णा काम-वासना होती है। मनोवैज्ञानिक इसे यौवन की मानसिकता कहकर समझने का प्रयास करते हैं, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि जब तुम काम-वासना के पीछे भागते हो तब तुम्हारा मन बेहद अशान्त हो जाता है, क्योंकि कामुकता एक सनक है, एक बन्धन है, कोई मुक्तिदायी प्रवृत्ति नहीं। इसका प्रयोजन सिर्फ व्यक्तिगत संतुष्टि होता है, परन्तु इसकी पूर्ति इसे और बढ़ाती ही है। व्यक्ति वासना का दास हो जाता है और जीवन के सकारात्मक पक्ष से सम्पर्क खो बैठता है। आहार और निद्रा की तरह वासना के भी शारीरिक और मानसिक प्रभाव अनुभव किए जाते हैं। बहुत ज्यादा नींद हानिकारक है और बहुत कम नींद भी। उसी तरह अत्यधिक वासना हानिकारक है और वासना का दमन भी। इसलिए चिन्तन, मनन और ध्यान द्वारा जीवन के ऑपरेटिंग सिस्टम की सही जानकारी हासिल करनी चाहिए ताकि जीवन के कर्मों को सुव्यवस्थित किया जा सके।

कर्म और पुनर्जन्म

कर्म हमें पूर्वजन्मों से प्राप्त होते हैं, और वर्त्तमान जीवन में भी इनका सृजन होता है। सभी प्राच्य दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, जबकि पाश्चात्य दर्शन प्रायः इसमें विश्वास नहीं करते। पाश्चात्य चिन्तन चार्वाकीय है – *यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्* – खूब मौज-मस्ती करो, भले ही उधार लेकर क्यों न करनी पड़े। लेकिन जब आदमी आध्यात्मिक चिन्तन करता है, अपने जीवन के रहस्य को जानने और उसके उत्थान के लिए प्रयत्नशील होता है, तब वह इस सत्य का अनुभव करने लगता है कि – *पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्*। बार-बार हम जन्म



लेते हैं, बार-बार मरते हैं, बार-बार पुन: माँ के गर्भ में प्रवेश करते हैं। स्वयं ईसा मसीह ने पुनर्जन्म की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि उनके गुरु, जॉन बैप्टिस्ट, संत एलिज़ा के पुनर्वतार थे। ईसा मसीह ने पुनर्जन्म की वास्तविकता को स्वीकारा है। ईसाई चर्च की मान्यता भले ही कुछ और हो पर वह तो एक संस्था है। मैं यहाँ संस्थाओं की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं बात कर रहा हूँ उन अनुभवों की जो एक मनुष्य को हो सकते हैं। ईसा मसीह को वह अनुभव हुआ और उन्होंने उसका उल्लेख भी किया।

भारतीय शास्त्रों ने पुनर्जन्म पर विस्तार से चर्चा की है। संत-महात्माओं ने भी इसके बारे में कहा है और आज के वैज्ञानिक भी इस पर चर्चा और अनुसंधान कर रहे हैं। प्राच्य दर्शनों की मान्यता है कि जो भी संस्कार हम इस जीवन में संचित करते हैं, यदि उनका इसी जीवन में विसर्जन नहीं किया जाता तो वे अगले जन्म में साथ जाते हैं। यह कागज पर पेंसिल से लिखने की तरह है। तुम उस लिखाई को मिटा सकते हो लेकिन कागज पर पड़ी पेंसिल की छाप को नहीं। जो कुछ भी तुम लिखते हो उसे कागज पर से पूरी तरह कभी मिटाया नहीं जा सकता। यही वह संस्कार है जिसके साथ तुम आते हो। मन

की मृत्यु नहीं होती, वह कभी बदलता नहीं। यदि मन बदल जाता तो फिर पूर्वजन्म की स्मृतियाँ कैसे बनी रहतीं? इस जन्म का मन पूर्वजन्मों के मन से भिन्न नहीं होता। मैं अपने अगले जन्म में किसी और का मन नहीं, अपना ही मन प्राप्त करूँगा।

हम कर्मों का अनुभव करने और उनका क्षय करने के लिए ही बार-बार जन्म लेते हैं। आत्मा अपने अन्तर्निहित स्वभाव के कारण ईश्वर की ओर अग्रसर होना चाहती है लेकिन प्रकृति आत्मा को संसार की ओर आकर्षित करने का प्रयास करती है। जब आत्मा प्रकृति के सहयोग से एक भौतिक शरीर धारण करती है, तब इसे इन्द्रियों और मन की आवश्यकता होती है। लेकिन जब यह ईश्वर से जुड़ने का प्रयास करती है, तब इसे मन या इन्द्रियों की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि यह प्रयास बाह्य या बौद्धिक नहीं होता। यदि तुम अग्नि प्रज्वलित करोगे तो उसकी ज्वाला ऊपर की ओर जाएगी। वृक्ष सदा ऊपर आकाश की ओर बढ़ेगा। इसी प्रकार आत्मा की शक्तियाँ सदा ऊपर की ओर बढ़ने का प्रयास करती हैं, लेकिन हम कर्मों के प्रभाव के कारण उन्हें नीचे की ओर खींच लेते हैं।

जो संस्कार हमारे साथ इस जीवन में एक गठरी के रूप में आते हैं, उन्हें प्रारब्ध कहा जाता है। वे कागज पर पड़ी लिखावट की छाप के समान हैं, जिन्हें देखा तो नहीं जा सकता, लेकिन वे हमारे जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। उनका सम्बन्ध गुणों से रहता है। जीवन की लीला ऐसे ही आरम्भ होती है। हम जन्म लेते हैं, बचपन में खेलते-कूदते हैं, फिर पढ़ते-लिखते हैं, बड़े होकर काम-धन्धा करते हैं। जब अपने प्रारब्ध, गुणों और मूल प्रवृत्तियों के अनुसार हम यह खेल खेलते हैं, तब एक मनोवृत्ति का निर्माण होता है जिसे चरित्र या व्यक्तित्व की संज्ञा दी जाती है।

सुख की खोज

शरीर और मन प्राप्त कर लेने के बाद आत्मा किस चीज की खोज करती है? सुख की। यही जीवन का विधान है। एक बच्चा भी सुख की खोज में उतना ही तत्पर रहता है जितना एक बूढ़ा आदमी। दु:ख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति, यही जीवन का मुख्य संघर्ष होता है। सुख की अनुभूति के लिए तुम हर सम्भव प्रयास करते हो, लेकिन फिर भी सुख मिलता नहीं। क्योंकि तुम्हारा मानसिक ढाँचा सुख की अनुभूति के अनुरूप नहीं। वास्तविक सुख तो 'आनन्द' की

स्थिति है। आनन्द की इस अवस्था का अनुभव उसी मन को होता है, जो किसी बन्धन में नहीं होता।

जब मन बन्धन में रहता है तब तुम आनन्द की एक झलक-भर पा सकते हो, पर उस अनुभव को स्थायी नहीं बना सकते। सुख की उस क्षणिक झलक के बाद फिर विषाद आता है। लेकिन जिस समय वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है, उस समय मन पूर्णतया बन्धनमुक्त हो जाता है। अपने ही जीवन को देख लो। जब तुम प्रसन्नचित्त रहते हो तब तुम कितना हर्ष, कितना उल्लास महसूस करते हो। सारा संसार जगमगाता-सा लगता है, मन हल्का लगता है, शरीर हल्का लगता है, मानो आनन्द की लहरों पर हिलोरें ले रहा हो। यह मुक्ति का, स्वतंत्रता का अनुभव है। और जब जीवन में दु:ख आता है तब बन्धन और बेचैनी की अनुभूति होती है, ऐसा लगता है मानो सिर पर कोई भारी बोझ आ पड़ा हो। मोक्ष का मतलब होता है इन दु:खों और क्लेशों से मुक्ति। जो बंधा हुआ है, उसे विमुक्त करना ही मोक्ष है। आखिर वह कौन-सा बन्धन है जिसने तुम्हें बांध रखा है? वह बन्धन न तो इन्द्रियों का है, और न ही मन का। इन्द्रियाँ और मन तो हमेशा साथ रहेंगे ही। बन्धन है क्लेशों का, अज्ञान का, अभिनिवेश का, जो सुख-शान्ति का हरण कर लेते हैं। इन बन्धनों से अपने आपको मुक्त करना है।

इन सुखों और दु:खों से कर्म अभिन्न रूप से जुड़े हैं। तीनों गुण और चारों मूल प्रवृत्तियाँ सुख और दु:ख से प्रभावित होती हैं। एक तामसिक व्यक्ति भी सत्त्व का अनुभव करेगा जब उसके जीवन में सुख-शान्ति होगी। और एक सात्त्विक व्यक्ति दु:ख के समय तामसिक अवस्था का अनुभव करेगा। इसलिए इस संसार में कर्मों का लक्ष्य यही है कि किसी-न-किसी विधि से आनन्द की प्राप्ति हो।

ईश्वर ने सुख और दु:ख की कल्पना की और प्रकृति ने उन्हें हमारे स्वभाव में प्रत्यारोपित कर दिया। सुख हमें दुर्बल बनाता है जबकि दु:ख पुरुषार्थ को जागृत करता है। जो लोग सुख के पीछे भागते हैं, वे कमजोर बने रहते हैं, लेकिन जो दु:ख को झेलते हैं, उनका मन मजबूत बनता है। संसार में जितनी भी उत्कृष्ट उपलब्धियाँ हुई हैं, उनका कारण सुखद परिस्थितियाँ नहीं थीं। बल्कि वे सब दु:ख के साथ संघर्ष का परिणाम हैं। यदि सिद्धार्थ ने मानव-पीड़ा को न देखा होता तो वे कभी बुद्ध नहीं बन पाते। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने कहा है कि दु:ख और पीड़ा को अपनी साधना और विकास का आधार बनाओ।

दु:खद परिस्थितियों में पुरुषार्थ की जो प्रवृत्ति तुम्हारे अन्दर जागृत होगी और इससे तुम्हें जिस सत्त्व की प्राप्ति होगी, वह अनुपम, अद्वितीय होगा।

महाभारत युद्ध के बाद माता कुन्ती ने भगवान कृष्ण से यही बात कही थी। युद्ध समाप्त हो चुका था। युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो चुका था, राज्य में समृद्धि और शान्ति लौट आई थी। श्रीकृष्ण ने अपने राज्य वापस लौटने का निश्चय किया। उन्होंने सब लोगों से विदा ली, किन्तु जब वे कुन्ती के पास आए तो कुन्ती ने उनसे कहा, 'अब जब हमारे यहाँ सुख, शान्ति और समृद्धि है, तुम लौट रहे हो। जब हम दु:ख-तकलीफ में थे, तब तुम याद करते ही तत्काल हमारे सामने उपस्थित हो जाते थे। मैं तो यही चाहती हूँ कि हमारे जीवन में सदा दु:ख ही दु:ख रहे, ताकि हम तुम्हें याद करते रहें और तुम्हारे पावन सान्निध्य में बने रहें।' आज तक इतिहास में ऐसी प्रार्थना केवल कुन्ती ने ही की है। कितनी पीढ़ियाँ आईं और गईं लेकिन किसी के मन से ऐसे उद्‌गार नहीं निकले कि भगवान! मुझे दु:ख दो, क्योंकि दु:ख में ही तुम साथ रहते हो। सुख में तो तुम हम से दूर चले जाते हो।

आध्यात्मिकता की ओर, ईश्वर की ओर, साधु-सन्तों की ओर कौन अभिमुख होता है? वही जो दु:खी होता है। कष्ट और पीड़ा हमें ईश्वर के निकट लाते हैं। सुख-दु:ख प्रकृति के कारण होते हैं, ईश्वर के कारण नहीं। ईश्वर हमें न हर्ष में डालना चाहते हैं न विषाद में। वे चाहते हैं कि हम जिस भी परिस्थिति में, जिस भी अवस्था में रहें, संतोष के साथ रहें। प्रकृति योग और माया के रूप में प्रकट होती है और वह सुख और दु:ख, दोनों को ही लाती है। जिस व्यक्ति की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। बाकी सभी सुख और दु:ख के साथ जूझते रहते हैं। अनेक लोग स्थायी आनन्द की खोज में आध्यात्मिकता की ओर मुड़ते हैं। यह अपनी जगह ठीक है। तुम्हें सुख और आनन्द का अनुभव अवश्य करना चाहिए, लेकिन अपने जीवन का उद्‌देश्य मत भूलो। तुम्हें अपने आपको सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना है, ताकि तुम पूर्ण स्वतंत्रता और मुक्ति का अनुभव कर सको।

प्रकृति के आयाम में गुणों की वजह से ही हम सुख और दु:ख का अनुभव करते हैं। जब कोई तमोगुण-प्रधान व्यक्ति कर्म करता है तब वह अपने आपको बन्धन में बांध लेता है। जब कोई सत्त्वगुण-प्रधान व्यक्ति कर्म करता है तब वह अपने आपको बन्धनों से मुक्त कर लेता है। रजोगुण-प्रधान व्यक्ति को मिश्रित परिणाम की प्राप्ति होती है।

आश्रम में तुम वही काम करते हो जो तुम अपने घर में करते हो – खाना पकाना, साफ-सफाई करना, झाड़ू-पोंछा लगाना, योजनाएँ बनाना। कार्य-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर रहता है तुम्हारी समझ और ज्ञान में। आश्रम परिवेश से, सत्संग, साधना, श्रद्धा और समर्पण से धीरे-धीरे यह समझ में आने लगता है कि क्या उपयोगी है और क्या अनुपयोगी, क्या उचित है और क्या अनुचित। यही काम घर पर रहकर करने से विचारों में ऐसी स्पष्टता नहीं आ पाती। आश्रम में सिर पर गुरु का डण्डा पड़ता है, लेकिन घर में डण्डा चलाने वाला कौन है? जब गुरु का डण्डा पड़ता है तो थोड़ी-सी जागृति आती है, तुम सोचने लगते हो कि तुम सही कर रहे हो या गलत। तुम अपने प्रति सजग बनते हो और तुम्हारे भीतर द्रष्टा भाव जागने लगता है। यह एक दिन में सिद्ध होने वाली चीज नहीं, लेकिन एक बार यह प्रक्रिया शुरू हो जाती है तब तुम धीरे-धीरे अपने कर्मों और विचारों के साक्षी बनने लगते हो। यही वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षा है।

जीवन रूपी वृक्ष का बीजारोपण और कटाई-छँटाई

आज तुम एक बीज बोते हो तो कुछ समय बाद वह अंकुरित होगा। और जब दस साल बाद उसमें फल आएँगे तब तुम्हें अपने बीजारोपण का परिणाम देखने को मिलेगा। आध्यात्मिक जीवन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इसलिए जल्दबाजी मत करो, धीरज से काम लो। ऐसा नहीं कि ध्यान शुरू करते ही दिव्य अनुभवों की अपेक्षा करने लग जाओ। ध्यान के बीज का रोपण करो, उसकी रक्षा करो, उसका पोषण करो, उसकी देख-भाल करो और दस साल बाद तुम्हें ध्यान के परिणाम अवश्य मिलेंगे। एक सप्ताह में कुछ नहीं होने वाला और ऐसी अपेक्षा भी नहीं करना। प्रकृति अपने नियमों के अनुसार चलती है। जीवन में मनुष्य का प्रयास यही होना चाहिए कि वह सही बीज बोये और उन बीजों के पल्लवित-पुष्पित होने के लिए सही वातावरण बनाये।

यह धरती एक क्लब के समान है जिसके हम सभी आजीवन सदस्य हैं। जब हम यह शरीर छोड़ते हैं हमारी सदस्यता भी समाप्त हो जाती है। जन्म से मृत्यु तक हम सभी मानव समाज के आजीवन सदस्य होते हैं। इसलिए अपने कर्मों की गुणवत्ता में परिवर्तन लाना जरूरी है; नकारात्मक और विनाशकारी होने के बजाय उन्हें रचनात्मक और मंगलकारी बनाना चाहिए। अपनी मूल प्रवृत्तियों के अवलोकन से, सही समय पर सही कार्य

करने से और अपने स्वभाव को बेहतर बनाकर हम अपने कर्मों को सही दिशा में रूपान्तरित कर सकते हैं।

अपने स्वभाव को कैसे सुधारा जाए? यदि तुम किसी बढ़ते हुए पौधे के विकास में कोई हस्तक्षेप नहीं करते तो उसकी टहनियाँ सभी दिशाओं में फैलती जाएँगी। अगर तुम चाहते हो कि पौधा ऊपर की ओर सीधा बढ़े तो तुम्हें उसकी कटाई-छंटाई शुरू से ही करनी होगी। यही तुम अपने जीवन के साथ भी करो। तुमने कभी अपने जीवन रूपी वृक्ष की कटाई-छँटाई नहीं की है। एक डाल टेढ़े-मेढ़े ढंग से एक दिशा में बढ़ जाती है तो दूसरी डाल दूसरी दिशा में। तुम यह टेढ़ा-मेढ़ा वृक्ष अपने माली को दिखाकर कहते हो, 'मैं चाहता हूँ कि यह पेड़ सीधा बढ़े।' माली कहता है, 'मुझे इन टेढ़ी-मेढ़ी टहनियों को आरी से काटना होगा।' तुम कहते हो, 'नहीं, नहीं, आरी मत चलाओ, पेड़ को तकलीफ होगी।' माली कहता है, 'दूसरा कोई चारा नहीं।'

हम लोग सही जीवनशैली के महत्त्व को आज तक नहीं समझ पाए हैं। यदि कोई शुरू से ही सही ढंग से जीवन व्यतीत करे, शुरू से ही अपने संस्कार, स्वभाव और व्यवहार की समुचित कटाई-छँटाई करे तो प्रारम्भिक प्रयास के बाद हमारा जीवन रूपी वृक्ष अपने आप सीधा बढ़ेगा।

साधना की आवश्यकता

यह कटाई-छँटाई योग साधना के माध्यम से होती है। योग साधना का अर्थ है अपने स्वभाव का रूपान्तरण। यह तुम्हें स्वयं करना है। आध्यात्मिक जीवन तुम्हें अपने स्वभाव की सीमाओं से अवगत कराता है। ध्यान के दौरान तुम यही देखते हो। जब तुम अपने स्वभाव के इस सीमित पक्ष को देखते हो, तब उस समय भय या अपराध की भावना पैदा होती है। जब तुम एक ऐसी मानसिक अवस्था को रूपान्तरित करने का प्रयास करते हो, जिसके साथ तुम वर्षों से रहते आए हो, तब तुम एक मानसिक संकट से गुजरते हो। मन में कुण्ठाएँ पैदा होने लगती हैं। जब आरम्भ में ही कटाई-छँटाई नहीं की जाती तब छोटी-छोटी टहनियाँ बड़ी होकर मजबूत शाखाएँ बन जाती हैं और तब उनको सीधा करना असम्भव हो जाता है।

जिस प्रकार हम एक पेड़ के सही विकास के लिए उसकी शुरू से कटाई-छँटाई करते हैं, उसी प्रकार हमें अपने स्वभाव की भी कटाई-छँटाई करनी है।

एक नये दृष्टिकोण, एक नयी मनोवृत्ति को अपनाकर। गिलास आधा भरा है या आधा खाली है? गिलास को तुम किस दृष्टिकोण से देखते हो? यदि तुम जीवन के अभावों से चिन्तित हो तो तुम कहोगे कि गिलास आधा खाली है, और यदि तुम जीवन की प्राप्तियों से, उपलब्धियों से अपने आप को जोड़ते हो तो कहोगे कि यह आधा भरा है। परिस्थिति वही है, अंतर केवल दृष्टिकोण में है। जब तुम्हारा मन सूझ-बूझ, बुद्धिमानी और ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ता है, तब इसका परिणाम एक सकारात्मक दृष्टिकोण में दिखलाई देता है।

चरित्र का रूपान्तरण

जब मन में ज्ञान का उदय होता है तब मनोवृत्ति बदल जाती है। जब मन इन्द्रियों के साथ जुड़ा होता है तब प्रतिक्रिया भिन्न होती है। जब मन किसी एक इच्छा से जुड़ा होता है तब भी प्रतिक्रिया अलग होती है।

अपने स्वभाव का अवलोकन करने से, समझदारी, ज्ञान और सजगता के माध्यम से अपने चरित्र का रूपान्तरण किया जा सकता है। समझदारी और सजगता के संयोग से ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के जरिये ही हम अपने चरित्र की कटाई-छँटाई कर सकते हैं, उसे सुन्दर बना सकते हैं। मूल प्रवृत्तियों का प्रबन्धन ध्यान के माध्यम से होता है। और स्वभाव का प्रबन्धन होता है सजगता, समझदारी और कटाई-छँटाई से।



जीवन का ऑपरेटिंग सिस्टम और मन

27 फरवरी 2010

हमें जीवन का अनुभव चार चीजों के माध्यम से होता है –

1. मूल प्रवृत्तियाँ – आहार, निद्रा, भय और मैथुन
2. हमारा मूलभूत स्वभाव
3. संस्कार
4. इन्द्रिय अनुभव

ये सभी मिल कर हमारे जीवन का मुख्य ऑपरेटिंग सिस्टम बनाते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् – ये तीन गुण इन चारों घटकों का साथ देने हेतु प्रकट होते हैं और जब ये गुण ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ जुड़ते हैं, तब इसकी अभिव्यक्ति में परिवर्तन आ जाता है।

मूल प्रवृत्तियों का प्रबन्धन

कर्मयोग के अभ्यास के लिए व्यक्ति को जीवन के इस ऑपरेटिंग सिस्टम से प्रारम्भ करना होगा। इसके लिए ज्ञान के साथ संयोग जरूरी है। मान लो तुम अंधेरे में सड़क पर चल रहे हो और तुम्हारी नजर रस्सी के एक टुकड़े पर पड़ती है। तुरन्त मन में विचार आता है, 'बाप रे! साँप!' मन में एक बार यह विश्वास पैदा हो जाता है कि यह साँप है तो फिर तुम कभी उसे रस्सी का टुकड़ा नहीं समझोगे। जब उस चीज की साँप के रूप में पहचान बना लेते हो तब फिर वैसी ही प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होने लगती हैं – भय, घबराहट, दिल की तेज धड़कन और वहाँ से पलायन की इच्छा। उस समय

यदि तुमसे कोई कह दे कि नहीं, यह तो सिर्फ रस्सी का टुकड़ा है तो तुम्हारी प्रतिक्रिया पूरी तरह बदल जाएगी। जैसे ही तुम जान जाओगे कि यह साँप नहीं, रस्सी का टुकड़ा है, तुम भय-मुक्त हो जाओगे, दिल की धड़कन सामान्य हो जाएगी और भाग निकलने की इच्छा भी विलीन हो जाएगी। इस प्रकार, ज्ञान के माध्यम से, समझदारी के माध्यम से, तुम मूल प्रवृत्तियों के एक घटक, भय को पराजित कर सकते हो।

मूल प्रवृत्तियों के प्रबन्धन में कठिनाई सिर्फ उनके साथ सजगता जोड़ने में है। *कामातुराणां न भयं न लज्जा*– जब काम-वासना प्रबल होती है तब व्यक्ति में न लज्जा रहती है और न ही भय। कामातुरता और उसके प्रति सजगता का अभाव, ऐसी स्थिति में व्यक्ति सभी प्रकार के प्रतिबन्धों और सीमाओं को लांघ जाता है। जब तुम किसी मूल प्रवृत्ति के आवेग का अनुभव करते हो तब तुम्हारी प्रतिक्रिया उस प्रवृत्ति के अनुरूप ही होती है। कोई भी व्यक्ति इस प्रक्रिया के प्रति सजग नहीं रह पाता, इसका विश्लेषण नहीं कर पाता। मूल प्रवृत्ति, चाहे वह आहार हो या निद्रा, भय अथवा मैथुन, उसके यौगिक प्रबन्धन में पहला सोपान होता है सजगता, अर्थात् यह जानना कि अमुक प्रवृत्ति क्रियाशील है।

दूसरा सोपान है विश्लेषण। विचार करो कि तुम्हारी जानकारी और समझ ठीक है या नहीं? क्या मैं वाकई साँप देख रहा हूँ या रस्सी के टुकड़े में साँप की कल्पना कर रहा हूँ? मैं किस विधि द्वारा यथार्थ को देख सकता हूँ? मूल प्रवृत्तियों के प्रबन्धन में विश्लेषण दूसरा कदम है।

तीसरा है संयम– अपनी प्रतिक्रियाओं पर अंकुश रखना, संयम और धैर्य बनाए रखना ताकि सजगता विकसित हो सके, विश्लेषण हो सके। एक बार जब सजगता परिपक्व हो जाती है और विश्लेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, तब हम यह जान सकते हैं कि हमारी प्रतिक्रिया उपयुक्त है या नहीं। उपयुक्त और उचित प्रतिक्रिया हमेशा संयम पर आधारित होती है।

मूल प्रवृत्तियों में चौथा परिवर्तन ज्ञान के माध्यम से लाया जाता है। विश्लेषण के माध्यम से तुम प्रवृत्तियों के सही या गलत होने को समझते हो। फिर उस समझ को ज्ञान के माध्यम से एक रचनात्मक शक्ति में परिवर्तित कर दो। इस प्रकार मूल प्रवृत्तियों के प्रबन्धन की ये चार विधियाँ हैं– सजगता, विश्लेषण, संयम और ज्ञान।



स्वभाव का प्रबन्धन

अगला चरण है स्वभाव की, चरित्र की सुव्यवस्था। मानव स्वभाव उन संस्कारों और गुणों पर आधारित है जो हम अपने जीवन में प्राप्त या जागृत करते हैं। जन्म के समय हमें कुछ संस्कार और गुण विरासत में मिलते हैं। वे ही हमारे मौलिक चरित्र और व्यक्तित्व को निर्धारित करते हैं।

कोई व्यक्ति आशावादी होता है तो कोई निराशावादी। कोई पुरुषार्थ में विश्वास रखता है तो कोई भाग्य में। कोई जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखता है, हमेशा खुश और प्रसन्न रहता है तो कोई नकारात्मक मनोवृत्ति रखता है और हमेशा निराश रहता है। मानव व्यक्तित्व के ये व्यवहार बाहर से आरोपित नहीं होते, बल्कि वे हमारे अन्तर्जात गुणों की अभिव्यक्ति होते हैं, जो हमारे जीवन में समय-समय पर प्रकट होते हैं।

अपने इस स्वभाव को हम कैसे रूपान्तरित कर सकते हैं जबकि हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा पूरा जीवन बन्धन में है और हमारी सारी ऊर्जा बाहरी विषय-वस्तुओं की ओर ही प्रवाहित हो रही है? हमारी सजगता बहिर्मुखी है, वह भौतिक विषयों और इन्द्रिय-जनित संवेदनाओं में ही उलझी है। इस प्रकार हमारा स्वभाव भी बहिर्मुखी रूप धारण किये हुए है जिससे ईर्ष्या, निराशा, उदासी, घृणा, काम-वासना और लोभ जैसी नकारात्मक प्रवृत्तियों को सिर उठाने का अवसर मिल जाता है। इन सभी अभिव्यक्तियों की जड़ में होती है हमारे अपने स्वभाव के तुष्टीकरण की कामना।

आखिर हम किसी से द्वेष या ईर्ष्या क्यों करते हैं? क्योंकि हमारे मन में ऐसी भावना पैदा होती है कि दूसरा व्यक्ति हमसे कुछ अधिक पा रहा है, चाहे वह अधिक आदर-सत्कार हो, या अधिक सुख, स्नेह अथवा धन-सम्पत्ति हो। जब हम किसी अन्य व्यक्ति के जीवन में परिपूर्णता पाते हैं और अपने जीवन में कमी, तब ईर्ष्या का जन्म होता है। दो व्यक्तियों के बीच तुलना ही ईर्ष्या का कारण बनती है। अगर तुम मेरे साथ तुलना न करो, और मैं भी तुम्हारे साथ तुलना न करूँ तो ईर्ष्या का कोई कारण नहीं होगा। घृणा, प्रेम या क्रोध जैसी अन्य भावनाओं के साथ भी यही बात लागू होती है।

इस बात को याद रखो कि किसी नई वस्तु को जन्म देने के लिए दो भिन्न वस्तुओं का एक साथ आना जरूरी होता है। यहाँ पर ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं– 'मेरी उदासी' और 'तुम्हारी खुशी'। जब तुम अपनी उदासी, अपने अभाव से जुड़ते हो और दूसरे व्यक्ति की परिपूर्णता, उसकी प्रसन्नता को देखते हो तब उस समय लोभ, द्वेष और ईर्ष्या जैसी नकारात्मक वृत्तियाँ उभरकर आती हैं। ये तुम्हारी मनोदशा को बदल देती हैं, तुम्हारे ज्ञान के प्रकाश को अविद्या के आवरण से ढक देती हैं। तुम्हारी बुद्धि स्वतः मन्द पड़ जाती है। यही तुम्हारे स्वभाव की कहानी है।

अपने स्वभाव की नकारात्मक और हानिकारक वृत्तियों को कैसे सम्भालें? अपने जीवन में रचनात्मक सद्गुणों को अपनाकर। स्वभाव का रूपान्तरण अपने में एक साधना है। यदि तुम किसी के प्रति ईर्ष्यालु हो तो उस ईर्ष्या का क्या इलाज है? उस इलाज का पता लगाओ और अपने जीवन में ईर्ष्या से निपटने के लिए उसका प्रयोग करो। यदि कुण्ठा या निराशा हो रही है तब उसका उपाय क्या है? वह कोई बाहर की चीज नहीं, तुम्हारे भीतर की भावना है। उपाय की खोज करो और निराशा से छुटकारा पाने के लिए उसका उपयोग

















करो। घृणा भी एक नकारात्मक वृत्ति है, इसके इलाज की तलाश करो, तब जाकर तुम इस प्रवृत्ति को सम्भाल सकोगे।

नकारात्मक अवस्थाओं में सकारात्मकता लाकर ही अपने स्वभाव का प्रबन्धन करना है। अपने अन्दर से नकारात्मकता निकाल फेंकने का प्रयास मत करो। यह तुम्हारे स्वभाव का एक अंग है, तुम इसे बाहर नहीं कर सकते। यह जन्म से ही तुम्हारे साथ रहा है। मन की आनुवांशिक संरचना में ये सभी अनुभव घुले-मिले रहते हैं। तुम इन्हें मन के 'जीन्स', मन के डी.एन.ए. का हिस्सा समझ सकते हो। नकारात्मकता, घृणा, कामुकता, क्रोध, इन सभी के जीन्स होते हैं। तुम न इन्हें बदल सकते हो, न ही हटा सकते हो। इनके विनाश का मतलब है तुम्हारा अपना विनाश। इन नकारात्मक वृत्तियों से उबरने के लिए इनके प्रतिपक्ष सद्‌गुणों का विकास करो। तब तुम इन्हें आसानी से सम्भाल सकते हो। इस प्रकार एक नकारात्मक ऊर्जा को एक रचनात्मक शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है।

संस्कारों का प्रबन्धन

अपने तीसरे सॉफ्टवेयर, संस्कार को हम कैसे सम्भाल सकते हैं? संस्कारों को सबसे पहले ध्यान की प्रक्रिया के माध्यम से समझना पड़ता है। ध्यान का अभ्यास प्रत्याहार और धारणा से प्रारम्भ होता है। एक साधक केवल धारणा के स्तर तक जा सकता है, उसके आगे नहीं। ध्यान एक ऐसी अनुभूति है जो आम आदमी के पहुँच के परे है। जब व्यक्ति देहाध्यास से, अपनी शारीरिक पहचान से ऊपर उठ पाता है, तब जाकर वह ध्यान की अवस्था का अनुभव कर सकता है।

एक बार सन् 1977 में मैं तस्मानिया में कार से यात्रा कर रहा था। कार में मेरे अलावा कार-चालक भी था। हम लोग शहर से दूर एक निर्जन इलाके से होकर गुजर रहे थे। वहाँ पर एक झील थी, झील के किनारे एक विशाल वृक्ष था। मैंने क्षणभर के लिए उस वृक्ष की ओर देखा और कार आगे बढ़ गई। उसी क्षण मेरे दिमाग में कुछ परिवर्तन हुआ। मैं अपनी शारीरिक चेतना खो बैठा। मैं भूल गया कि मैं कार में बैठा हूँ। कार में होने पर भी मैं यकायक वह पेड़ बन गया। बहुत ही डरावना अनुभव था वह!

वह ध्यान का अनुभव था। ध्यान एक भयावह अनुभव होता है क्योंकि जब तुम अपने शरीर की सजगता खो देते हो तब फिर क्या सहारा रह

जाता है? थोड़ी देर के लिए मैं वह पेड़ बन गया था। मैं पेड़ के तने पर चींटियों और कीड़े-मकोड़ों के ऊपर-नीचे रेंगने की सनसनी का अनुभव करने लगा। मैं अपने पत्तों के बीच हवा के बहने का, उस बयार में अपनी शाखाओं के झूलने का अनुभव करने लगा। मैं अपनी जड़ों में झील के पानी की थपथपाहट का अनुभव कर रहा था। यह अनुभव कुछ क्षणों के लिए ही रहा, लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ मानो यह घण्टों तक चला। एक मनुष्य के रूप में मेरी पहचान पूरी तरह विलीन हो गई, मेरा मन पूरी तरह अपने आपको वह पेड़ समझ बैठा। यही ध्यान की अवस्था है। ध्यान का अभ्यास किया नहीं जाता, यह तो मन की एक अवस्था है जो स्वत: साकार होती है। धारणा के सिद्ध होने पर जब मन ध्येय वस्तु के साथ पूरी तरह एकाकार हो जाता है तब उस अवस्था को ध्यान कहते हैं।

श्री स्वामीजी शायद ही कभी 'ध्यान' शब्द का प्रयोग करते थे। वे धारणा या एकाग्रता शब्द इस्तेमाल करते थे। हमारा सीमित मन बस वहीं तक जा सकता है। तुम कितनी तेजी से दौड़ सकते हो? तीन, चार या छ: किलोमीटर प्रति घण्टा। इससे ज्यादा तेज दौड़ने में तुम्हारा शरीर सक्षम नहीं। जिस तरह दौड़ने में शरीर की सीमाएँ हैं, उसी प्रकार एकाग्रता में



भी मानसिक सीमाएँ हैं, जो ध्यान की अवस्था तक पहुँचने नहीं देतीं। एक साधक के रूप में तुम धारणा के स्तर तक ही जा सकते हो। इतिहास में आज तक कोई भी मनुष्य ध्यान की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका है। सभी साधक धारणा की स्थिति, सम्पूर्ण एकाग्रता की अवस्था तक ही पहुँचे हैं। उसके बाद ध्यान की अवस्था में उतरने के लिए शरीर के परे जाना होगा, इन्द्रियों के पार जाना होगा। इसलिए भले ही मैं ध्यान शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, पर इसका मतलब ध्यान की उच्च अवस्था से नहीं लगाना, बल्कि प्रत्याहार और धारणा के प्रारम्भिक अभ्यासों से लगाना, जिनकी मदद से तुम अपने आन्तरिक स्वभाव, अपने आन्तरिक व्यक्तित्व के प्रति सजग हो सकते हो।

ध्यान के प्रारम्भिक चरणों में तुम अपने चित्त और भावनाओं की सजगता विकसित करते हो। यही प्रत्याहार और धारणा की प्रणाली है। जो लोग प्रत्याहार और धारणा के क्रमबद्ध स्तरों की उपेक्षा कर सीधे ध्यान लगाने का प्रयास करते हैं, वे ध्यान के सिद्धान्तों और अनुभूतियों को कभी नहीं समझ सकते। जैसे वर्तमान युग में समाधि प्राय: सभी की पहुँच के परे है, वैसे ही ध्यान का अनुभव भी सभी व्यक्तियों की पहुँच में नहीं है। फिर भी धारणा द्वारा बहिर्मुखी मन को एकाग्र करके तुम अपने सूक्ष्म मन, अपने चित्त के प्रति सजग बन सकते हो, उसे भली-भाँति जान सकते हो।

सूक्ष्म मन चित्रों की एक पुस्तक के समान है। पुस्तक के हर पन्ने पर एक चित्र है, परन्तु चित्रों को देखने के लिए तुम्हें पन्ने उलटने होंगे। इसी प्रकार से मनुष्य के चित्त की गहराइयों में जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों की मुहर लगी है। यह तुम्हारे पासपोर्ट के जैसा है। तुम अपने नये पासपोर्ट का उपयोग अपनी वर्त्तमान यात्राओं के लिए करते हो और साथ ही अपने पुराने पासपोर्टों को भी रखे रहते हो क्योंकि उनमें तुम्हारी पुरानी यात्राओं का ब्यौरा रहता है, इमिग्रेशन की पुरानी मुहरें रहती हैं।

पुराने पासपोर्ट तुम्हारे अतीत के संस्कारों के प्रतीक हैं और नया पासपोर्ट तुम्हारे वर्तमान जीवन का। पुराने पासपोर्ट बताते हैं कि तुमने किन-किन देशों की यात्रा की है और उनमें लगी इमिग्रेशन की मुहरें इस बात की पुष्टि करती हैं। जब तुम अपने किसी पुराने पासपोर्ट को खोलते हो और देखते हो कि कई वर्ष पूर्व तुम अमेरिका गए थे तब उस यात्रा की यादें ताजा हो जाती हैं। उसी प्रकार अपने चित्त की पेटी खोलने पर तुम्हें किसी कर्म की इमिग्रेशन मुहर

अर्थात् संस्कार मिलता है और तुम उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हो। संस्कार को पहले खोजना पड़ता है और यह सम्भव होता है ध्यान की प्रक्रिया से। ध्यान के द्वारा हम अपने स्वभाव की गहराइयों में जा सकते हैं। मंत्र योग का अभ्यास भी इस प्रक्रिया में सहायक होता है।

मन के विक्षेप को, भटकाव को रोकने के लिए मंत्र एक शक्तिशाली साधन है। लेकिन मंत्र की सही ढंग से साधना कर पाना बहुत कठिन है। मुझे सन् 1966 में मंत्र दीक्षा मिली थी। श्री स्वामीजी पुराने शिवानन्द आश्रम के साधना हॉल की सीढ़ियों पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा– 'बैठ जाओ।' फिर उन्होंने कहा, 'इस मंत्र को मेरे बाद दुहराओ।' वही मेरी मंत्र दीक्षा थी। उन्होंने मंत्र को एक बार कहा और मैंने उसे एक बार दुहराया। फिर मैं उसे भूल भी गया। मुझमें हिम्मत नहीं थी कि श्री स्वामीजी के पास जाऊँ और कहूँ, 'मैं अपना मंत्र भूल गया हूँ, क्या आप उसे दुबारा बतलाने की कृपा करेंगे?' इसलिए मैं चुप रह गया। कई महीने बीत गये। एक दिन मैं शान्ति से बैठा था। शरीर और मन शिथिल होते गए। सहसा मेरे मन में वह मंत्र बिजली-सा कौंध गया और मैं उसे दुहराने लगा। मुझे याद आ गया कि मुझे वही मंत्र दिया गया था। मैं इतना खुश था कि मैं श्री स्वामीजी के पास दौड़कर गया और कहने लगा, 'स्वामीजी देखिये! मैं अब अपनी मंत्र साधना कर रहा हूँ।' मंत्र का स्मरण अचानक हो गया। हालाँकि मैं उसे भूल गया था लेकिन गुरु द्वारा दिये गये मंत्र की शक्ति ऐसी थी कि वह मेरे अचेतन मन में सक्रिय रहा।

मैंने श्री स्वामीजी से पूछा कि मुझे कितनी मालाओं का मंत्र-जप करना चाहिए। उन्होंने कहा, 'एक माला ही काफी है, लेकिन पूरी सजगता के साथ।' और मैं आज तक उस एक माला को पूरी सजगता के साथ करने का प्रयास ही कर रहा हूँ। अगर मुझे केवल मंत्र के उच्चारण के साथ माला के मनकों को आगे खिसकाना हो तो मैं घण्टे भर में न जाने कितनी मालाएँ कर सकता हूँ। लेकिन जब मैं हर मंत्र के प्रति सजग रहकर जप करने का प्रयास करता हूँ तो कभी अंतिम मनके तक नहीं पहुँच पाता। पचासवें के बाद पता नहीं मन कहाँ चला जाता है। तब मुझे ख्याल आता है कि मन तो मंत्र पर टिका नहीं है। फिर मैं अपने मन को खींचकर वापस लाता हूँ और पुन: पहले मनके से जप प्रारम्भ करता हूँ। आज तक मैं मंत्र की एक माला भी पूरी नहीं कर पाया हूँ।

इन्द्रियों का संयम

ऑपरेटिंग सिस्टम का चौथा घटक इन्द्रियाँ हैं, जिनका प्रबन्धन उनके दिशान्तरण से किया जाता है। जब आँखें किसी रुचिकर वस्तु या व्यक्ति, जैसे एक सुन्दर फूल या एक अभीष्ट मित्र, को देखती हैं, तब उस समय हमें अपने विचारों पर गौर करना चाहिए। उस फूल को देखकर मन में कुछ इस तरह के विचार उठने लगेंगे– 'वाह, क्या सुन्दर रंग-रूप है, कितनी मनमोहक सुगन्ध है!' यहाँ तक तो ठीक है पर इसके आगे सतर्कता आ जानी चाहिए। फूल के सौंदर्य की प्रशंसा करने के बाद तुम क्या करना चाहते हो?

उस समय तुम्हें अपने मन का, अपनी सजगता का दिशान्तरण करना चाहिए। तुम्हें अपने आप से कहना चाहिए, 'यह सुन्दर फूल मुझे पसंद जरूर आया लेकिन यह मेरी जरूरत नहीं है।' पसंद और जरूरत दो अलग चीजें हैं। रुचि से आवश्यकता भिन्न है। दोनों के भेद को पहचानना सीखो। जब तुम यह भेद कर सकोगे तब तुम अपनी इन्द्रियों को संयमित कर पाओगे। तब न मन और विचार इन्द्रियों के पीछे भागेंगे, न भावनाएँ। तुम अपनी इन्द्रियों को सम्भाल सकोगे, उनकी दिशा निर्देशित कर सकोगे और उन्हें सकारात्मक एवं रचनात्मक अभिव्यक्ति की ओर ले जा सकोगे।

यही वे विधियाँ हैं जिनके माध्यम से तुम अपने ऑपरेटिंग सिस्टम के चारों घटकों का सुनियोजन कर सकते हो।

गुणों का प्रभाव

जब हमारा बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम अर्थात् मूल प्रवृत्तियाँ, स्वभाव, संस्कार और इन्द्रिय अनुभव, अपने सहायक ऑपरेटिंग सिस्टम अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्, से जुड़ता है तब एक तीसरे प्रकार का व्यवहार, एक तीसरे प्रकार का सॉफ्टवेयर पैदा होता है।

उदाहरण के तौर पर हम दो अलग-अलग चीजों को लेते हैं। एक है साफ पानी से भरा गिलास और दूसरी है स्याही की बोतल। दोनों एक-दूसरे से भिन्न और पृथक् हैं। हम साफ पानी को पहला और काली स्याही को दूसरा ऑपरेटिंग सिस्टम मान लेते हैं। अब अगर काली स्याही की एक बूँद गिलास में डाल दी जाए तो पानी साफ और निर्मल नहीं रहेगा, उसमें कालापन दिखलाई देने लगेगा। उस पानी की मौलिक प्रकृति बदल गई। पानी और स्याही के संयोग से एक तीसरा पदार्थ उत्पन्न हुआ, जिसे कहते हैं विकार।

गुणों के साथ भी यही सिद्धान्त लागू होता है। मान लो कि तमस् का रंग काला, रजस् का लाल और सत्त्व का सफेद है। इन तीनों रंगों में से किसी एक की बूंद जब मूल प्रवृत्तियों, स्वभाव, संस्कारों या इन्द्रिय अनुभवों के निर्मल जल में पड़ जाती है तो वह रंग इन चारों में दिखलाई देता है। इस तरह जब गुणों का सॉफ्टवेयर हमारे बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम को प्रभावित करता है तब एक तीसरी अनुभूति उभरती है और वह अनुभूति होती है मन की, अन्त:करण की।

हमारे बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम और गुणों के मिश्रण से जो कुछ भी परिवर्तन होते हैं, उनका प्रादुर्भाव हमारे मन में होता है। मन में ही यह तीसरी अनुभूति अभिव्यक्त होती है। जब तीनों गुण मूल प्रवृत्तियों के साथ संयुक्त होते हैं तब मन में एक स्पन्दन उत्पन्न होता है। यदि गुण और प्रवृत्तियाँ दोनों पृथक् हैं और इनमें कोई संयोग नहीं होता तब स्पन्दन भी पैदा नहीं होगा। मन की अभिव्यक्ति, मन की अनुभूति तभी होती है जब कोई विकार पैदा होता है। अपने ही मन का अवलोकन करो। तुम अपने मन के प्रति सजग कब होते हो? जब विचारों, कामनाओं या महत्त्वाकांक्षाओं में कोई हलचल होती है। अगर मन चुप है, शान्त है तब तुम्हारा ध्यान उसकी ओर नहीं जाता। तुम्हें उसका पता तक नहीं चलता। तुम जानते हो कि मन नाम की कोई चीज है लेकिन तुम उसके प्रति सजग तभी होते हो जब उसकी साम्यावस्था में हलचल होती है। कोई समस्या, चिन्ता या कामना माध्यम बन जाती है मन का अनुभव करने के लिए। मन में जब तक कोई वृत्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक हम मन को महसूस नहीं करते। यह मन एक तरह से जीवन की पाकशाला है क्योंकि सब कुछ मन में ही पकता है।

जीवन की पाकशाला

मन वस्तुत: जीवन की पाकशाला है, और इस मन में तरह-तरह की चीजें पकाने के लिए तरह-तरह के कड़ाही-पतीले भी हैं। मन के चार भाग होते हैं – मनस्, चित्त, बुद्धि और अहंकार। मनस् तर्क-वितर्क करता है, बुद्धि निर्णय लेती है, चित्त स्मृतियों का भण्डार है और अहंकार स्वयं की पहचान। अहंकार इस मानसिक पाकशाला की कड़ाही है, चित्त उस कड़ाही में भरा गया पानी है, बुद्धि मिर्च-मसाला है, और मनस् है दाल-चावल-रोटी-सब्जी। मनस् में तुम सब्जियाँ वगैरह काटते हो, बुद्धि इन सब्जियों में मसाला डालती है, फिर



तुम इन सब्जियों को चित्त के पानी में डालते हो और अंततः यह सब अहंकार की कड़ाही में पकता है।

मन एक ऐसी पाकशाला है जहाँ विचार, भावनाएँ, प्रतिक्रियाएँ और अभिव्यक्तियाँ पक कर तैयार होते हैं। इस प्रक्रिया के लिए हम अपने स्वभाव के विभिन्न पक्षों से अलग-अलग चीजें लेते हैं–इधर से एक इच्छा, उधर से एक महत्त्वाकांक्षा, यहाँ से एक कर्म, वहाँ से एक स्मृति–और उन सभी को मिलाकर हम कहते हैं, 'मैंने फैसला कर लिया है कि जीवन में मुझे क्या व्यंजन चाहिए।' इसका अर्थ हुआ कि हमारा भोजन अब पककर तैयार हो चुका है।

जब मन में भोजन पकाया जाता है तब हम उस भावना, कामना या गुण के प्रति सजग हो जाते हैं जो पकाया जा रहा है। सामान्यतया हम तीनों गुणों के बारे में जानते तो हैं लेकिन शायद यह नहीं जानते कि इनमें से कौन-सा प्रबल है। इसी वजह से हम अपने मूल स्वभाव से अनजान बने रहते हैं,

यह सूक्ष्म और अदृश्य जो होता है। पर इसका अस्तित्व एक सच्चाई है। गुण भी सूक्ष्म, अव्यक्त और अदृश्य हैं, लेकिन उनका भी अस्तित्व एक वास्तविकता है। जब भोजन तैयार हो जाता है तब हमें मालूम पड़ता है कि हम क्या चाहते हैं और क्या नहीं। मन अपनी तुष्टि और पोषण के लिए एक कामना को जन्म देता है और उस कामना के सृजन के लिए वह बुनियादी ऑपरेटिंग सिस्टम और उसके सहायक सॉफ्टवेयर से विभिन्न चीजों का इस्तेमाल करता है।

कामना का स्वरूप

मन में पकी यह खिचड़ी ही हमारी परेशानी का कारण होती है। इसकी कोई दूसरी वजह नहीं होती। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ, मोह, छल-कपट, प्रेम अथवा करुणा – ये सभी आन्तरिक अनुभूतियाँ हैं। चाहे ये अच्छी हों या बुरी, सही हों या गलत, ये सभी मन में ही पकती हैं और मन में ही इनकी अनुभूति होती है। ये अनुभूतियाँ अकेले नहीं आतीं, बल्कि सदा किसी अन्य वस्तु, विषय, व्यक्ति, महत्त्वाकांक्षा, मानसिकता या विचार से सम्बद्ध होती हैं। क्रोध अकेले जन्म नहीं लेता, उसका सम्बन्ध किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति या परिवेश से रहता है। भय अकेले नहीं आता, वह भी किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति या परिवेश से जुड़ा होता है। ऐसी कोई चीज नहीं जो हमारे जीवन में स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होती है। हर अभिव्यक्ति के पीछे कोई कारण, आधार या माध्यम अवश्य रहता है। और वह कारण है कामना।

सभी कामनाएँ और इच्छाएँ दो चीजों के लिए होती हैं – आत्म-रक्षा और आत्म-तुष्टि। 'मुझे कोई हानि न हो, मैं हमेशा सुखी रहूँ, मेरी सभी कामनाएँ और आवश्यकताएँ पूरी हों,' हमारा पूरा आचरण अपने स्वार्थ से सम्बन्धित होता है। ऐसा आचरण भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों तरह के जीवन में पाया जाता है। यहाँ पर बैठे संन्यासियों से पूछो कि उनकी क्या महत्त्वाकांक्षाएँ हैं। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ स्वार्थ से प्रेरित हैं, सिर्फ अपने लिए हैं। लेकिन स्वामी सत्यानन्द जैसे किसी संन्यासी से पूछो कि वे क्या चाहते हैं तो उनका उत्तर होगा, 'मेरे लिए कुछ नहीं, दूसरों के लिए सब कुछ।' यही अन्तर है सोच में।

मैं आत्म-रक्षा या आत्म-तुष्टि की आवश्यकता को नकार नहीं रहा हूँ। वह भी अपनी जगह जरूरी है, उसके लिए समुचित प्रयास होना भी चाहिए

लेकिन बिना किसी सनक के। तुम सौ चॉकलेट लेकर क्या करोगे, तुम्हें तो बस एक की जरूरत है। बाकी निन्यानवे दूसरों को दे दो, जो उन्हें पाकर खुश होंगे और तुम्हारे आभारी होंगे। यदि तुम सभी चॉकलेट अकेले खा जाओगे तो फिर उसका परिणाम भुगतने के लिए भी तैयार रहो!

हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि कामना एक ऐसी कन्या की भाँति होती है जो सदा गर्भवती रहती है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी कामना के जन्म लेने से पूर्व ही उसके अन्दर एक अन्य कामना गर्भ में आ गई रहती है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में कामना को सगर्भा कहा गया है। एक का जन्म हुआ नहीं कि दूसरी उसके पेट में आ गयी; दूसरी का जन्म हुआ नहीं कि तीसरी पेट में आ गयी। आखिर कितने बच्चों को पेट में लेकर चलोगे? एक बच्चे को पैदा करना ही कितना कठिन होता है, यदि हजारों की संख्या में बच्चे पैदा हों तो क्या होगा? जब भी कोई कामना उत्पन्न होती है तो वह सुख या आनन्द प्रदान करने के लिए नहीं, बल्कि दु:ख देने के लिए ही पैदा होती है। तुम भले ही सोचो कि अपनी इच्छाओं, कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति से तुम्हें सुख की प्राप्ति होगी, लेकिन हमारे मनीषियों ने साफ-साफ कहा है कि वासना-पूर्ति से कभी सुख नहीं मिलता। जो भी सुख हम कामनाओं की पूर्त्ति से पाते हैं वह क्षणिक होता है। वह मात्र तृप्ति का भाव होता है, और कुछ भी नहीं। यह सुख क्षणिक इसलिए होता है कि जैसे ही वह कामना पूरी होती है एक दूसरी कामना उभर आती है और मन अब उसकी ओर मुड़ जाता है। पहली इच्छा-पूर्त्ति का आनन्द उठाने से पहले ही तुम दूसरी इच्छा की पूर्त्ति में लग जाते हो। इसलिए सुख की अनुभूति स्थायी नहीं होती, वह हवा की तरह चपल और चंचल होती है। और हम लोगों का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि हम हमेशा चंचल चीजों की ओर आकृष्ट होते हैं, उन्हें किसी भी कीमत पर हासिल करना चाहते हैं। पर उनमें स्थायित्व नहीं होता।

अगर तुम्हें किसी शहर में मिठाई की बढ़िया दुकान मिल जाती है तो जब भी तुम उस शहर में जाओगे, उस दुकान में जरूर जाओगे और जमकर खाओगे-पियोगे। और जब दूसरी बार वहाँ जाओगे तो दो किलो मिठाई घर के लिए भी ले जाना चाहोगे। इच्छाएँ इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। खाने का मजा तो ले लिया पर चिन्ता शुरू हो गई, वासना शुरू हो गई कि लौटते समय झोला भर के मिठाइयाँ घर ले जानी हैं। मिठाई खाने का सुख तो क्षणिक था लेकिन उस दुकान में जाने का विचार अब सदा तुम्हारे साथ बना रहता है।

एक बार महात्मा बुद्ध से किसी ने पूछा, 'महात्मन्, बताइए कि मैं यह कैसे जानूँ कि मेरी आध्यात्मिक उन्नति हो रही है या नहीं।' उन्होंने केवल एक वाक्य में उत्तर दिया– 'जब तुम्हारी वासनाएँ कम होने लगें तब यह जान लो कि तुम्हारी प्रगति हो रही है। और यदि वासनाएँ बढ़ती जाएँ तो समझ लो कि तुम्हारी अवनति हो रही है।' हर साधक के मन में यह प्रश्न कभी-न-कभी आता ही है और वह सोचता है कि आध्यात्मिक प्रगति की कसौटी है आन्तरिक अनुभूतियाँ। अगर ध्यान में देवी-देवताओं का दर्शन हो जाय तो उसे लगता है कि वह सही रास्ते पर है, अगर भूत-पिशाच दिखें तो सोचता है कि गलत रास्ते पर है। अगर सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास होता है तो सही रास्ते पर है और अगर नकारात्मक मनोवृत्ति प्रबल हो जाय तो गलत रास्ते पर है। लेकिन हमारे मनीषियों के अनुसार आध्यात्मिक उन्नति या अवनति का मापदण्ड देवता या दानव का अनुभव नहीं है। हम अपने मन में जो भी देखना चाहें देख सकते हैं। आत्म-सम्मोहन द्वारा हम अपने आप को भी भूल सकते हैं। यह कोई बड़ी बात नहीं। जीवन में वास्तविक प्रगति तभी होती है जब इच्छाओं में, महत्त्वाकांक्षाओं में कमी आती है। कमी का मतलब इच्छाओं के साथ सनक नहीं जुड़ती, हम पागलों की तरह उनके पीछे नहीं भागते, उनके कारण अपना संतुलन, अपना संयम नहीं खो बैठते। क्योंकि मानसिक संतुलन खोने पर हमारे मन में तामसिक प्रवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं।

मन का मुख्य कार्य है मनन करना। मनन से ही मन शब्द आया है। मनन का अर्थ है कि किसी एक विचार को पकड़ना और उसके मूल स्रोत तक जाना। किसी संवेदना को पकड़ना और उसकी तह तक जाने का प्रयास करना। यह कार्य मन द्वारा सम्पादित होता है। मन द्वारा चिन्तन-मनन तभी हो सकता जब वह चंचल न रहे। जब मन चंचल हो जाता है, अपना संतुलन खो बैठता है, तब चिन्तन का स्वरूप हो जाता है चिन्ता का, तनाव का, परेशानी का।

अपरा मन और परा मन

मन दो प्रकार का होता है, अपरा और परा। इन्हें हम निम्न और उच्च, स्थूल और सूक्ष्म या लौकिक और लोकोत्तर मन भी कह सकते हैं। परा मन का तात्पर्य उस सर्वव्यापी, दिव्य चेतना से है जिसमें सब कुछ निहित है, जबकि अपरा मन का सम्बन्ध उस सीमित अवस्था से है जिसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की स्थूल अभिव्यक्तियों का अनुभव होता है।

मन के निम्न स्तर पर केवल अपनी व्यक्तिगत तुष्टि का ध्यान रहता है। यह बात मन के चारों घटकों पर लागू होती है। उदाहरण के लिए, हमारी अपरा या स्थूल बुद्धि हमें संसार से जोड़ती है, इच्छाओं और आवश्यकताओं से जोड़ती है, जबकि परा या सूक्ष्म बुद्धि जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को व्यापक और उदार बनाती है। जब बुद्धि अपने तक सीमित रहती है तब उसमें स्वार्थ आ जाता है, जबकि परा बुद्धि में सभी स्वार्थपरक इच्छाओं का अतिक्रमण हो जाता है। अपने दैनिक जीवन में हम लोग जिस बुद्धि का प्रयोग करके पढ़ाई-लिखाई, लेन-देन, व्यापार-धंधा करते हैं, वह अपरा बुद्धि है, और जब हम इस निम्न बुद्धि के परिणामों से अपने को मुक्त कर लेते हैं, सुख-दुःख, इच्छा-अनिच्छा, न्याय-अन्याय, सही-गलत की धारणाओं से ऊपर उठ जाते हैं, तब वहाँ पर परा बुद्धि का अनुभव होता है। यह अनुभव एक सर्वव्यापी चेतना और ज्ञान के रूप में होता है, जिसमें हर चीज की सजगता रहती है, हर कर्म के आधार, प्रयोजन और प्रक्रिया की जानकारी और समझ प्राप्त हो जाती है। लेकिन जब तक बुद्धि निम्न स्तर पर रहती है तब तक वह प्रमाण, विपर्यय और विकल्प के दायरे में घूमती रहती है।

तुम लोग अपनी ही बुद्धि को देख लो, जिसका उपयोग तुम प्रतिदिन करते हो। अपनी बुद्धि की अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करो, तुमको खुद अन्दाज मिल जाएगा। तुम्हारी बुद्धि या तो प्रमाण खोजेगी या अनुमान करेगी या मन में मिथ्या ज्ञान पैदा करेगी। मिथ्या ज्ञान किसे कहते हैं? एक बार तीन अपरिचित व्यक्ति किसी यात्रा पर जा रहे थे। तीनों की यात्रा एक-दो घण्टे के अन्तराल पर हो रही थी। पहले व्यक्ति ने रास्ते में देखा कि एक चट्टान पर पीले रंग का एक गिरगिट धूप सेंक रहा है। उसने गिरगिट को देखा और आगे बढ़ गया। दूसरा यात्री एक घण्टे के बाद आता है और उसी चट्टान पर लाल रंग का गिरगिट देखता है। फिर एक घण्टे बाद तीसरा यात्री आता है और चट्टान पर काले रंग के गिरगिट को धूप सेंकते देखता है। तीनों बाजार में मिलते हैं और अपनी यात्रा के बारे में एक-दूसरे को बताते हैं। पहले ने कहा कि मैंने एक अचम्भा देखा, एक पीले रंग के गिरगिट को चट्टान पर बैठे देखा। दूसरे ने कहा कि तुम्हें दृष्टि-दोष है, वह पीला नहीं, लाल था। तीसरे ने कहा कि तुम दोनों डॉक्टर के पास जाकर अपनी आँखों की जाँच कराओ, क्योंकि मैंने जो गिरगिट देखा वह काले रंग का था। विवाद खड़ा हो गया कि गिरगिट का असली रंग कौन-सा है, पीला, लाल या काला।

यह है अपरा बुद्धि की अभिव्यक्ति। लेकिन जो उस जानवर का स्वभाव जानता है, वह कहेगा कि गिरगिट तो अपना रंग बदलता रहता है। तुमने उसको एक समय एक रंग में देखा, दूसरे समय दूसरे रंग और तीसरे समय तीसरे रंग में। यह होती है परा बुद्धि। अपरा बुद्धि किसी चीज को देखती है और उसको जैसे-का-तैसा स्वीकार कर लेती है। वह जानकारी गलत भी हो सकती है लेकिन फिर भी स्वीकार्य है। गिरगिट का रंग न पीला होता है, न लाल और न ही काला। लेकिन अपरा बुद्धि ने उसे देखा और स्वीकार कर लिया कि वही उसका स्वभाव है, वही उसका रंग है।

हम लोग संसार में, इन्द्रिय क्रियाकलापों में जिस बुद्धि का प्रयोग करते हैं वह अपरा या निम्न बुद्धि होती है। इसलिए बुद्धि के रहते हुए भी हमारे विचार और कर्म सही नहीं होते। ज्ञान के रहते हुए भी उसमें संकीर्णता होती है



जिसके कारण कर्मों में संकीर्णता आ जाती है और उनकी सहजता समाप्त हो जाती है। लेकिन जो व्यक्ति परा-बुद्धि-सम्पन्न है, उसके ज्ञान अथवा कर्मों में संकीर्णता नहीं होती। उसका दृष्टिकोण विशाल और व्यापक होता है और वह बुद्धि का सही ढंग से उपयोग करता है। वह इन्द्रिय-विषयों से आसक्त नहीं होता, क्योंकि वह उनके स्वभाव से परिचित होता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति अपरा बुद्धि के स्तर पर होता है वह विषयों के स्वभाव को नहीं जानता और उनकी ओर आकर्षित होता है।

'मूढ' और 'विवेकशील', ये दो अन्य शब्द हैं जो बुद्धि की गुणवत्ता के परिचायक हैं। मूढ का अर्थ है जड़, सुस्त या मतिमन्द। कोई व्यक्ति बुद्धिवादी होते हुए भी मतिमन्द हो सकता है यदि उसमें सजगता, समझदारी और सूझ-बूझ नहीं है। दूसरी ओर विवेकशील व्यक्ति में ऐसा ज्ञान होता है जो सही और गलत का भेद जानने की क्षमता देता है। पहले मामले में किसी विषय की बौद्धिक जानकारी होते हुए भी तुम वास्तव में अनजान रहते हो क्योंकि तुम्हें उस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। इसलिए तुम्हें जड़मति की संज्ञा दी जाती है। यह मानसिक जड़ता बुद्धि की एक अभिव्यक्ति है, और विवेक अर्थात् सही-गलत को पहचानने की क्षमता भी बुद्धि की ही अभिव्यक्ति है।

बुद्धि की उच्चतर अभिव्यक्तियाँ तब प्रकट होती हैं जब व्यक्ति सकारात्मकता और समत्व की प्राप्ति के लिए अपने मन के आचरण को बदलना शुरू करता है। लेकिन अगर हमारी सजगता आत्म-केन्द्रित रहती है तो हमारा ज्ञान मात्र किताबी ज्ञान रह जाता है। हम उसे अपने जीवन में उतार नहीं पाते। हम जानते हैं कि क्या सही है और क्या गलत, लेकिन इस पर अमल नहीं कर पाते। अपने ही जीवन पर नजर डालो और देखो कि अच्छी तरह जानते हुए भी कि अमुक मार्ग सही नहीं है, तुम कितनी बार गलत मार्ग पर जा चुके हो? उस समय तुम्हारी समझदारी कहाँ थी, तुम्हारा विवेक कहाँ था? उस समय 'मैं और मेरी आवश्यकता', बस यही भाव तुम्हारे ज्ञान और समझ पर हावी हो गया था।

मन का तीसरा घटक है चित्त, जिसका अर्थ होता है आन्तरिक चेतना की अनुभूति। तुम स्मृति के माध्यम से इस आन्तरिक चेतना का अनुभव कर पाते हो। जो घटना आज से बीस वर्ष पूर्व घटित हुई, उसका तुम आज भी अनुभव कर सकते हो। यह अनुभव कहाँ से आया? चित्त से, जो हमारे जीवन का गोदाम है, भण्डार-गृह है। गोदाम में तुम एक के ऊपर एक, सब-कुछ रखते

जाते हो और फिर उसके दरवाजे पर ताला लगा देते हो। तुम गोदाम में किसी चीज की खोज तभी करते हो जब तुम्हें उस चीज की जरूरत पड़ती है। चित्त के साथ भी ऐसा ही होता है। जन्म से लेकर आज तक तुम्हारी जितनी भी स्मृतियाँ हैं वे सभी चित्त में रखी रहती हैं और तुम उन्हें जब चाहो निकाल सकते हो। तुम बड़ी आसानी से अपने शादी के दिन की या अपने बेटे के जन्मदिन की स्मृतियों को अपने मन के चेतन स्तर पर ला सकते हो और उस क्षण का दुबारा अनुभव कर सकते हो।

हमारे सभी सुख-दुःख हमारी स्मृति में अंकित रहते हैं। मनीषियों का कहना है कि पूर्वजन्मों के सभी कर्म और संस्कार भी इसी चित्त में अवस्थित हैं। कभी-कभी जब तुम ध्यान के लिए बैठते हो और ध्यान में असीम शान्ति का अनुभव कर रहे होते हो, तब अचानक कहीं से एक विचार या भाव आ धमकता है, जिसके बारे में तुम्हें कोई पूर्वाभास या जानकारी भी नहीं थी। अचानक तुम्हें बचपन की कोई घटना याद आ जाती है, जिसे तुम कब से भूल चुके हो।

एक चिकित्सक हैं ऑस्ट्रेलिया के। उन्हें बचपन से दमे की बीमारी थी। दवा, इलाज सब कुछ हुआ किन्तु बीमारी ठीक नहीं हुई। बड़े होने पर उन्होंने सोचा कि मैं डॉक्टर बन कर स्वयं अपना इलाज करूँगा। डॉक्टर भी बन गये, चिकित्सा विज्ञान की सारी जानकारी भी प्राप्त कर ली। और उस जानकारी के अनुसार अपना उपचार भी किया पर उपचार सफल नहीं हुआ। ऑस्ट्रेलिया से वे अमेरिका गए, वहाँ के विशेषज्ञों को दिखाया। अमेरिका से वे इंग्लैंड आए, वहाँ भी उपचार का प्रयास हुआ। अन्त में किसी ने कह दिया कि योग को अपनाकर देखो। वे आश्रम आए, श्री स्वामीजी से मिले। श्री स्वामीजी ने कहा कि डॉक्टर होकर तुमने हर तरह का उपचार आजमाकर देख लिया है, तुम जान गए हो कि दवा काम करने वाली नहीं है। सभी दवाएँ छोड़ दो। दमा होता है, होने दो, दिक्कत होती है तो होने दो। तुम बस एक काम करो। ध्यान करो।

तीन महीने तक सभी दवाएँ छोड़कर उन्होंने सिर्फ ध्यान किया। एक दिन ध्यान की अवस्था में या यूँ कहो कि स्वप्न में उन्होंने अपने मानस पटल पर एक घटना देखी जो उनके बचपन में घटी थी। वे अपने आपको छः साल के बच्चे के रूप में देखते हैं। उनके माता-पिता काम पर चले गए हैं, घर में आया उनका ख्याल कर रही है, खाने के समय पर खाना खिला रही है। छः साल के बच्चे का तो अड़ियल स्वभाव होता ही है, भोजन के समय आना-कानी

करता है, 'यह सब्जी मुझे पसन्द नहीं है', चम्मच फेंक देता है, बर्तन एक तरफ हटा देता है। आया उसके गले को पकड़ती है, कहती है कि खाना नहीं खाओगे तो तुम्हारे माता-पिता से कह दूँगी, वे तुम्हें दण्ड देंगे। स्वप्न बस इतना ही था। दूसरे दिन जब वे अपनी निद्रा से उठे तो दमे का नामो-निशान नहीं रहा। डॉक्टरों ने उनकी जाँच करके घोषित किया कि सचमुच वे दमे से शत-प्रतिशत मुक्त हैं।

मैं बात कर रहा हूँ डॉ. स्वामी शंकरदेवानन्द की। उन्होंने 'दमा और मधुमेह पर योग का प्रभाव' नामक पुस्तक भी लिखी है। इस प्रकार की घटना होती है तो लोग उसे चमत्कार या गुरु की कृपा समझते हैं कि व्यक्ति बगैर दवा के स्वस्थ हो गया। लेकिन अगर तुम इस रहस्य को समझने का प्रयास करोगे तो पाओगे कि वह स्वामी अपने मन के विभिन्न स्तरों को पार कर चित्त की गहराई में डुबकी लगा सका, जिससे दबी हुई स्मृतियाँ उभर आईं। और एक बार वह संस्कार मानस-पटल से हटा दिया गया तो वह आन्तरिक असंतुलन, जो बीमारी का मूल कारण था, अपने आप समाप्त हो गया। स्मृतियाँ मन के चेतन, अवचेतन और अचेतन, तीनों स्तरों पर रहती हैं। जब स्मृतियाँ अचेतन मन में प्रकट होती हैं तब वे कर्म के रूप में व्यक्त होती हैं और जब चेतन मन में प्रकट होती हैं तब वे ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होती हैं।

मन का चौथा घटक है अहंकार। यह मानव जीवन का सबसे प्रबल अनुभव है। अहंकार पत्थर से भी कठोर होता है। पत्थर पर एक हथौड़ा कसकर मारा जाय तो वह टूट जाएगा, लेकिन अहंकार को तोड़ना आसान नहीं है। यह अहंकार अपने आपको अनेक रूपों में व्यक्त करता है। पहला है अपने महत्त्व का बढ़ा-चढ़ा भाव – 'मैं अति विशिष्ट व्यक्ति हूँ।' जब मन में ऐसा विचार रहता है, तब अहंकार स्वत: उभरता है। अगर कोई व्यक्ति तुम्हें सफाई के लिए झाड़ू दे तो तुम तुरन्त सोचोगे – 'इसकी यह मजाल कि मुझे झाड़ू थमा दे!' भले ही तुम ऐसा कहो नहीं लेकिन अहंकार के कारण ऐसा विचार जरूर आएगा। यह विचार मन, बुद्धि या चित्त के कारण नहीं आता। अगर तुम बुद्धि का आश्रय लेते हो तो तुम झाड़ू स्वीकार कर लोगे क्योंकि तुम्हें उसका प्रयोजन मालूम है। लेकिन जब झाड़ू पर बुद्धि के बजाय अहंकार की पकड़ होती है तब एक नकारात्मक प्रवृत्ति उभरती है।

हर व्यक्ति अपने अहंकार की जकड़ में है। एक व्यक्ति यहाँ पर आता है, कोई उसकी ओर देखता तक नहीं, उसके अहंकार को ठेस लगती है। दूसरा

व्यक्ति आता है, तुम उसे बैठने के लिए आसन नहीं देते, उसके अहं को चोट लगती है। तीसरा व्यक्ति आता है, तुमसे बातें करना चाहता है, लेकिन तुम दो मिनट ही बात करते हो। उसके अहं को चोट लगती है कि मैं तो अपनी पूरी बात कहने आया था, पर ये तो सुनते ही नहीं। अहंकार कभी भी अपनी पहचान नहीं खोना चाहता। कोई कितना भी ज्ञानी क्यों न हो जाए, अहं का भाव बना रहता है।

विश्वामित्र एक विख्यात ऋषि थे। उन्होंने कठोर तपस्या की, राजा से राजर्षि हो गए, लेकिन तब भी उनका अहंकार खत्म नहीं हुआ। क्यों? प्रतिस्पर्धा की भावना के कारण। वे हमेशा अपनी तुलना ऋषि वशिष्ठ से किया करते थे– 'उनमें कौन-सा ऐसा गुण है जो मुझमें नहीं। फिर क्यों लोग उन्हें ब्रह्मर्षि की उपाधि देते हैं और मुझे राजर्षि की?' यही तुलनात्मक दृष्टिकोण अहंकार का आधार है– 'उसे मिला, पर मुझे नहीं।' हम हमेशा तुलना करते हैं कि दूसरे को क्या मिला और हमें क्या, और इसी स्वभाव से अहंकार पुष्ट होता है। यहीं पर हम मार खा जाते हैं। विश्वामित्र गायत्री मंत्र के द्रष्टा थे, उन्हें भगवद्-दर्शन प्राप्त हुआ था, लेकिन फिर भी उनके अहंकार का अन्त नहीं हुआ। भक्त को भगवान का दर्शन हो जाने पर भी अहंकार से छुटकारा नहीं मिलता। वह कहता है, 'भगवन्, मेरे जीवन के अभावों को दूर कर दो।' क्यों ऐसा कहता है? अपने अहंकार की तुष्टि के लिए। सभी तुलनात्मक और स्वार्थपरक कर्मों का मूल कारण है अहंकार।

मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार– ये चारों कर्मों से जुड़े हैं। जो विकार गुणों के कारण मूल स्वभाव में उत्पन्न होते हैं वे प्रकट होते हैं मन में। उनका विश्लेषण होता है अपरा बुद्धि के द्वारा, उनका स्वरूप रहता है इच्छाओं और स्मृतियों का, जो चित्त में रहती हैं, और फिर उनकी पूर्ति हेतु प्रयास किया जाता है अहंकार द्वारा। मन के चारों घटक दो प्रकार के होते हैं– निम्न और उच्च, अपरा और परा। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की निम्न अवस्था हमें संसार से बांधती है और इनकी उच्च अवस्था हमें संसार के बन्धन से मुक्त करती है।

सभी प्राणी निम्न स्तर पर अटके हुए हैं, जहाँ सारी प्रवृत्तियाँ स्वाभिमुखी और स्वार्थपरक होती हैं। अपरा स्तर पर आत्म-तुष्टि और स्वार्थ, यही दो मुख्य भावनाएँ होती हैं। 'मैं' तत्त्व की प्रधानता होती है। विचार अपने सुख के लिए होते हैं, प्रयास सुख के लिए होते हैं, बुद्धि का उपयोग सुख की खोज के लिए किया जाता है, चित्त पुरानी आनन्ददायक स्मृतियों को उभारता है और



चाहता है कि उनकी पुनरावृत्ति हो, तथा अहंकार पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, यश-कीर्ति के पीछे भागता है। हम सभी मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के निम्न स्तर पर जीते हैं। लेकिन ऋषियों का कहना है कि जीवन में एक उच्चतर अनुभूति की प्राप्ति सम्भव है जिसमें तुम अपने आप को स्वार्थ-भावना से मुक्त कर सकते हो। तब तुम लौकिक और लोकोत्तर, दोनों तरह के जीवन से उपयुक्त ढंग से जुड़ सकते हो।

अपने आप को निम्न मन के स्तर से उबारकर उच्चतर मन में स्थापित करना, यही सभी साधनाओं का आधार है। अपनी निम्न, मूढ अवस्था में हमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कर्मों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी व्यवस्था को कर्मयोग कहते हैं।

कर्मयोग – मनोनियंत्रण की विधि

कर्मयोग का सम्बन्ध सिर्फ शारीरिक क्रिया-कलापों से नहीं, बल्कि सूक्ष्म आयामों में हो रही गतिविधियों से भी है। गुण, मूल प्रवृत्तियाँ, स्वभाव और संस्कार सूक्ष्म होते हैं और जब उनका बुद्धि, चित्त और अहंकार से संयोग होता है तभी जीवन में कर्म आरम्भ होता है। जब तक गुण अपना प्रभाव नहीं दिखाते, तब तक मूल प्रवृत्तियाँ कोई बाहरी परिवर्तन नहीं ला सकतीं, चाहे

उनका कितना ही पारस्परिक संयोग क्यों न हो। ये सारी गतिविधियाँ अन्दर में होती हैं, उनकी कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती। किसी चीज पर सजगता तभी जाती है जब वह अभिव्यक्त होती है। कोई नहीं जानता कि मिट्‌टी में बोए गए बीज में क्या हो रहा है। जब उसका अंकुर फूट कर बाहर आता है तब जाकर हमें उसके विकास का पता चलता है। अंकुर के निकलने के लिए अनेक सूक्ष्म आन्तरिक क्रियाएँ घटित होती हैं – बीज का कड़ापन समाप्त होता है, उसके अन्दर हवा-पानी पहुँचकर रासायनिक परिवर्तन लाते हैं और तब अंकुर प्रस्फुटित होता है। उसी प्रकार मन के सूक्ष्म आयाम में क्या-कुछ होता रहता है, इसकी जानकारी किसी को नहीं रहती। जानकारी तभी होती है जब वह एक विकार के रूप में प्रकट होता है। और यहीं से मन के साथ हमारा व्यवहार आरम्भ होता है।

हम कहते हैं, 'हमारा मन बेचैन है, उसे शान्त करने के लिए हमें कोई उपाय चाहिए।' हम ध्यान लगाने का प्रयास करते हैं, क्योंकि हमें बताया गया है कि ध्यान करने से मन शान्त हो जायेगा। लेकिन जब तुम ध्यान लगाते हो तब तुम्हें मात्र विकार ही दिखाई देता है, तुम उसके कारण को नहीं देख पाते। इसलिए तुम विकारों के साथ संघर्ष करते जाते हो। विकार बाग-बगीचे में मोथे के समान होते हैं। अगर तुम उन्हें ऊपर से ही तोड़ते हो, जमीन की गहराइयों में जाकर उनकी जड़ों को नहीं उखाड़ते, तो वे बार-बार पनपते रहेंगे। मोथे की जड़ कभी-कभी तीन फीट तक गहरी होती है, उसे निकालने के लिए कठिन श्रम करना पड़ता है। विकार भी मोथे की तरह है, ऊपर से काट लेने पर वह छोटा तो हो जाएगा, आँखों से शायद दिखेगा भी नहीं और तुम समझोगे कि तुम उससे मुक्त हो गए, लेकिन कुछ समय बाद वही विकार पुनः उग आयेगा।

श्री स्वामीजी कहा करते थे कि अगर घर में शान्ति चाहिए तो इसके लिए पति-पत्नी का सम्बन्ध अनुकूल होना चाहिए। झगड़ा होने पर कुछ दिनों के लिए नींद भी चौपट हो जाती है। जब तक समझौता नहीं होता, माहौल में तनाव रहता है। इसी सिद्धान्त को तुम अपने मन पर लागू करो। अपने मन के साथ सम्बन्ध ठीक रखो। मन का विरोध मत करो, मन के साथ विद्रोह मत करो। जब तक तुम मन के साथ समझौता नहीं कर लोगे, संघर्ष और अशांति रहेगी। तुम अपने जीवन-साथी के साथ जीवन के पचास-साठ साल ही बिताते हो, लेकिन अपने मन के साथ तो तुम अपना पूरा जीवन बिताते हो। तो जो

चीज तुम्हारे साथ जन्म से लेकर मृत्यु तक रही, उसके साथ अगर लड़ते रहोगे तो शान्ति कैसे पाओगे?

तुम्हारी शान्ति कोई दूसरा व्यक्ति नहीं, तुम्हारा मन ही भंग करता है। न पति कलह का कारण है और न ही पत्नी। कलह का कारण है तुम्हारा अपना मन। मन अशान्त होगा तो नींद चौपट, और मन शान्त होगा तो नींद भी अच्छी आएगी। तुम दूसरों को दोष देने के बजाय अपने मन का निरीक्षण करो। तुम समझ नहीं पा रहे हो कि आखिर तुम चाहते क्या हो। तुम्हारी नासमझी ही तुम्हारे जीवन के दुःख, कलह, ईर्ष्या और द्वेष का कारण है। जीवन में जितनी नकारात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं, वे सभी मन के आंतरिक कलह के कारण ही उत्पन्न होती हैं।

कोई किसी से ईर्ष्या करता है तो क्यों करता है? कोई किसी पर क्रोधित क्यों हो जाता है? कोई किसी से घृणा क्यों करता है? गलती किसी और की नहीं, हमारे अपने मन की है। इसलिए मन को सम्भाल कर रखो, मन से समझौता करो। जिस दिन मन के साथ समझौता हो जाएगा, संसार में कहीं अशान्ति और कलह नहीं दिखेगा, न अपने जीवन में, न अपने परिवार और समाज में। हम लोगों की परम्परा में हमेशा जोर देकर कहा गया है कि मन को व्यवस्थित करके चलो, उसे स्वतंत्र कभी मत छोड़ो। आजकल मन को बेलगाम छोड़ने की जो आदत बन गई है वह पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है। भारतीय संस्कृति में मन को बेलगाम छोड़ने की छूट नहीं दी गई है। बल्कि हमेशा कहा गया है कि अपने आपको अधिकाधिक संयमित रखो। वाणी, विचार और व्यवहार में संयम बरतो। संयम रखने से मन को छूट नहीं मिल सकती। जब मन बेलगाम चारों ओर घूमता है तब फिर अधिकार की खोज करता है। लेकिन जब मन नियंत्रित रहता है, वह अधिकार की खोज नहीं करता, बल्कि कर्त्तव्यों के प्रति सजग होता है, जिम्मेदारी से जुड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने कर्मों तथा बुद्धि, चित्त और अहंकार के व्यवहार के साथ समझौता कर लेना और उन्हें सुव्यवस्थित करना ही वास्तविक कर्मयोग है।

अहंकार से टक्कर

मनस्, बुद्धि और चित्त के आयाम में कर्मों का सृजन होता है, लेकिन कर्मों की अभिव्यक्ति अहंकार की मदद से होती है। अहंकार ही कर्मों को जन्म देता

है क्योंकि अहंकार स्वयं की पहचान है। जीवन में अहंकार की अहम भूमिका रहती है। वही तुम्हारे भीतर राग और द्वेष, आकांक्षा और आवश्यकता, प्रेरणा और पुरुषार्थ जागृत करता है, जिनके कारण तुम किसी परिस्थिति को या तो स्वीकारते हो या फिर नकार देते हो।

हालाँकि मैंने कर्मयोग के समस्त क्रम का वर्णन कर दिया है, लेकिन एक आध्यात्मिक साधक को वास्तव में अपने अहंकार को सम्भालने में सबसे ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है। प्रारम्भिक प्रयास तो अहंकार के साथ ही होने हैं, क्योंकि जीवन में कर्म वहीं से प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, अभी यहाँ पर मेरा व्याख्यान चल रहा है। अगर मैं सोचने लगूँ कि मैं बहुत अच्छा व्याख्यान दे रहा हूँ तो स्वाभाविक है कि मेरे अहंकार की पुष्टि होगी। ऐसी सामान्य परिस्थिति में भी हमारा अहंकार जुड़ा रहता है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में हमारी प्रतिक्रियाएँ अहंकार से ही निर्देशित होती हैं। कोई व्यक्ति तुमसे कोई काम करने के लिए कहता है तो तत्काल तुम्हारे मन में विचार उठता है, 'आखिर मुझे ही निशाना क्यों बनाया जा रहा है? यह तो मेरे लायक काम नहीं।'

अपने बारे में हम जो दृष्टिकोण रखते हैं वह स्वाभिमान कहलाता है। स्वाभिमान भी अहंकार की ही अभिव्यक्ति है। जो लोग बहुत स्वाभिमानी होते हैं उनका अहंकार भी उतना ही बड़ा होता है। और जिन लोगों में आत्महीनता का भाव होता है वे अहंकार के निम्न, नकारात्मक पक्ष से जुड़े होते हैं। इसलिए जब हम भौतिक स्तर पर कर्मयोग में संलग्न होते हैं तो सबसे पहले अपने अहंकार से टक्कर होती है।

मान लो तुम आश्रम में नए-नए आए हो और यहाँ पर कोई तुम्हारे हाथ में झाड़ू थमाकर सड़क की सफाई करने को कहता है। तुम्हें यह पसंद नहीं आएगा। तुम सोचोगे, 'मुझे झाड़ू लगाने के लिए क्यों कहा जा रहा है? क्या ये लोग जानते नहीं कि मैं कौन हूँ? ढेरों नौकर-चाकर मेरे इशारों पर दौड़ते हैं, मेरी कितनी गाड़ियाँ और बंगले हैं, और यहाँ मुझे झाड़ू लगाने के लिए कहा जा रहा है!' तुम इसी उधेड़-बुन में होते हो कि तब तक कोई और व्यक्ति आकर कहता है, 'सड़क की सफाई हो गई तो चलो मेरे साथ। बहुत-सी दरियाँ समेटनी हैं।' तुम सोचने लगते हो, 'आखिर इन लोगों ने मुझे क्या समझकर रखा है? मैं इनका नौकर हूँ?' यह प्रतिक्रिया कहाँ से आ रही है? अहंकार से।

अपने अहंकार से टक्कर लेना हाथी से लड़ने के समान है। हाथी को पछाड़ने का प्रयास करोगे तो तुम्हीं मारे जाओगे। लोग कहते हैं कि अहंकार का नाश करो। लेकिन जब तक तुम्हारा यह शरीर है और जब तक तुम विषय-भोगों की ओर आकर्षित होते हो, तब तक यह सम्भव नहीं। यहाँ तक कि एक संन्यासी भी अहंकार के प्रभाव से मुक्त नहीं, वह भी कुछ-न-कुछ प्राप्त करना चाहता है। यह अहंकार ही है जो मनुष्यों को कर्म के बंधन में जकड़ता है। सभी मनुष्यों ने स्वयं को बांध रखा है और अब इस बंधन से मुक्त होना चाहते हैं। पहले अपने आपको अहंकार से मुक्त करो, तब तुम अपने आप दु:ख, परेशानी और माया से मुक्त हो जाओगे।

अहंकार कुत्ते की उस पूँछ की तरह है जिसे कभी सीधा नहीं किया जा सकता। उसे सीधा करने का उपाय है एक झटके में काट देना। सीधा करने में वर्षों का समय क्यों बर्बाद करना। तलवार लो और सीधे अहंकार का सिर उड़ा दो। काम खत्म। अहंकार का निर्मूलन करने वाली यह तलवार क्या है? यह तलवार है विनम्रता। एक बार तुम विनम्रता को अपने जीवन में अपना लोगे तब अहंकार अपने आप शांत हो जाएगा और तुम स्वयं को एक भारी विपत्ति से बचा लोगे। ध्यान के अभ्यास से तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकते। ध्यान के माध्यम से तुम अपने अहंकार के द्रष्टा अवश्य बन सकते हो, उसके कारण और स्वभाव को समझ सकते हो, लेकिन उसे बदल नहीं सकते। उसके रूपान्तरण के लिए तुम्हें विनम्रता को अपनाना होगा।

एक बार महात्मा बुद्ध के सामने खड़े होकर एक आदमी ने उन्हें चुन-चुन कर गालियाँ दीं। महात्मा बुद्ध चुपचाप सुनते रहे। उस आदमी के चुप होने पर महात्मा बुद्ध उससे पूछते हैं, 'क्या तुम्हारी बात खत्म हो गई या और कुछ बोलना है?' उस आदमी ने कहा, 'मुझे जो कुछ बोलना था मैंने बोल दिया।' बुद्ध कहते हैं, 'अब मैं तुमसे एक प्रश्न करता हूँ। यदि कोई तुम्हें उपहार दे और वह उपहार तुम्हें नहीं चाहिए तो तुम क्या करोगे?' उसने कहा, 'जब मुझे उस उपहार की आवश्यकता नहीं तो मैं उसे क्यों रखूँगा? उसे वापस लौटा दूँगा।' बुद्ध कहते हैं, 'ठीक है, तुमने मुझे यह जो उपहार दिया है, मैं भी इसे रखना नहीं चाहता। ये सब गालियाँ वापस तुम्हें लौटाता हूँ।' वह आदमी निरुत्तर हो गया।

यदि तुम्हारा किसी से झगड़ा हो जाए, दूसरा व्यक्ति तुम्हें गालियाँ देने लगे, तो तुम बस उन्हें स्वीकार मत करो। तुम भी उसे गाली देने लगोगे तो

विवाद बढ़ेगा ही। शालीनता के साथ पीछे हट जाओगे तो तुम्हारा मन शान्त रहेगा। कब भिड़ना चाहिए और कब पीछे हटना चाहिए, इतनी विवेक-बुद्धि तो मनुष्य को होनी ही चाहिए।

आश्रम में आश्रमवासियों जैसा बर्त्ताव करना सीखो। तुम अपनी सुविधा के लिए आश्रम के नियम, अनुशासन और प्रणालियाँ क्यों बदलना चाहते हो? आश्रम तुम्हारी व्यक्तिगत सुविधा के लिए नहीं बना है। यह तो सबके लिए है। यह जीवन की कुछ विशेष परिस्थितियों से तुम्हारा सामना कराता है, मुठभेड़ कराता है। चाहो तो उन्हें स्वीकार करो, उन्हें समझने-सम्भालने का प्रयास करो या फिर नकार दो। अगर तुम इस मानसिकता के साथ आश्रम में आते हो कि 'मैं अपनी योग कक्षा में जाऊँगा, उसके बाद अगली कक्षा तक अपने कमरे में बैठकर ध्यान करूँगा, मेरे सभी काम दूसरे लोग कर देंगे,' तब फिर तुम्हारे लिए आश्रम में कोई जगह नहीं। आश्रम आते हो तो अपने स्वभाव को जानने के प्रयोजन से आओ।

स्वामी सत्यानन्द जी का प्रशिक्षण

मुंगेर में आश्रम की शुरुआत बहुत छोटे स्तर से हुई थी। आज तुम यह आश्रम देखकर भले ही कहो, 'वाह, कितना सुन्दर स्थान है यह!' लेकिन तुम नहीं जानते कि हम यहाँ किस प्रकार रहा करते थे। जब हम पहली बार आश्रम आए तब हमारे पास अपनी चीजों को रखने तक के लिए स्थान नहीं था। हम खुले आसमान के तले सोया करते थे, चाहे जाड़े का मौसम हो या बरसात, बसन्त हो या शरद। बरसात के दिनों में हम सोने के लिए अपने सिर पर प्लास्टिक की चादर डाल लिया करते थे। हमारे पास भोजन तक के लिए पैसे नहीं थे। मेरे जैसे कुछ संन्यासी बाजार जाते थे और वहाँ सड़क पर फेंके गए सब्जी के पत्तों को बोरे में इकट्ठा कर आश्रम में लाया करते थे। उसमें से सड़े-गले पत्तों को निकाल कर, हरे पत्तों को साफ कर, उन्हें पकाकर खाया करते थे। यदि कभी नमक रहता तो वह भोज कहलाता। आज उस जीवन की कोई कल्पना कर सकता है? हमारे जीवन में आसान परिस्थितियाँ नहीं, कड़े संघर्ष रहे। सन् 1963 से 1982 तक हमारा परिवेश एकदम साधारण था। जब सन् 1982 में हम पुराने आश्रम से गंगा दर्शन में आए तब हमारी जीवनशैली बदली।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों ने हमें अपने आप का अवलोकन करने, अपने स्वभाव को जानने-समझने का अवसर दिया। हर दिन हमें अपनी

निम्न बुद्धि, निम्न मन, निम्न स्मृतियों और निम्न अहंकार की प्रबल पकड़ का अहसास होता था। हमें उनका डटकर सामना करना पड़ता था और चूँकि हम उनका सामना कर सके, इसलिए आज हम यहाँ बैठे हैं। इसलिए नहीं कि हम लोगों ने आठ-आठ घण्टे तक ध्यान का अभ्यास किया है। मेरी उपलब्धियाँ ध्यान का परिणाम नहीं हैं। वे इस वजह से हैं कि मुझे मन में उत्पन्न हो रही विभिन्न अवस्थाओं का सामना करना सिखाया गया। मैंने यही व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त किया है। और यही कर्मयोग की शिक्षा है, यही कर्मयोग का मार्ग है।



कर्मों का बन्धन और कर्मों से मुक्ति

28 फरवरी 2010

पिछले तीन दिनों में हमने जिन बिन्दुओं पर चर्चा की है, वे इस प्रकार हैं –

1. *जीवन के चार आधार* – चार मौलिक तत्त्व जीवन की अभिव्यक्ति के आधार बनते हैं – मूल प्रवृत्तियाँ, संस्कार, स्वभाव और इन्द्रियाँ।

2. *गुण* – मौलिक तत्त्वों का यह दूसरा स्तर है जो प्रथम स्तर के ऑपरेटिंग सिस्टम से जुड़ता है। इसके संयोग का परिणाम मन में अनुभव होता है।

3. *मन* – मन और इसके विभिन्न अवयव, यानि मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार ही कर्मों के कार्यक्षेत्र हैं। अपने जीवन में हमें कर्मों का अनुभव यहीं होता है। चार आधार और तीन गुण कर्मों के सूक्ष्म पक्ष हैं जिनसे व्यक्ति प्राय: अनभिज्ञ रहता है, क्योंकि वे चेतन मन और बुद्धि के क्षेत्र के बाहर हैं।

4. *मौलिक तत्त्वों का परस्पर संयोग* – हमें अपने संस्कारों की जानकारी कैसे हो सकती है? बहुत मुश्किल है। हमें यह कैसे पता चल सकता है कि कौन-सा गुण प्रबल है? यह भी जानना कठिन है। फिर भी हर समय मन के किसी एक तत्त्व, एक अवस्था की प्रबलता रहती है, भले ही इस सूक्ष्म स्तरीय प्रबलता से हम अनजान हों। हमारे जीवन में कर्मों की उत्पत्ति पहले दो बुनियादी तत्त्वों के परस्पर संयोग से होती है, और फिर उनकी अनुभूति मन में होती है। हम जान जाते हैं कि अमुक क्रिया, विचार, व्यवहार या इच्छा कर्म है। हम समझ जाते हैं कि कर्म करना हमारा कर्त्तव्य है। हमें ज्ञान हो जाता है कि कुछ कर्म हमें बन्धन में डालते हैं, जबकि कुछ कर्म हमारा उत्थान भी करते हैं। कर्मों के बारे में यह ज्ञान और समझ मन के माध्यम से होती है।

5. *मन की पाकशाला* – मन की पाकशाला में अहंकार वह कड़ाही होती है जिसमें चित्त का पानी सदा उबलता रहता है और जिसमें मनस् का अन्न-शाक नियमित रूप से पकता और बुद्धि का मसाला डलता रहता है। ये चारों चीजें एक साथ मिल कर कर्म, जीवन, महत्त्वाकांक्षा और कामना की सजगता पैदा करते हैं। हम जिस भी चीज की कामना करते हैं वह कामना इसी स्तर पर प्रकट होती है, चाहे वह कामना भौतिक हो या आध्यात्मिक, बाह्य या आन्तरिक। मन के दो स्तर होते हैं जिन्हें हम अपरा और परा, निम्न और उच्च, बंधन-युक्त और बन्धन-मुक्त या विषयाभिमुख और आत्माभिमुख कह सकते हैं। कर्मों को सुव्यवस्थित करने के लिए, अच्छे कर्म करने के लिए, ज्ञान और समझ के एक बेहतर स्तर पर आने के लिए हमें मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार की प्रतिक्रियाओं को सुव्यवस्थित करना होगा।

6. *मन की व्यवस्था* – मनस् के कर्मों की व्यवस्था प्रत्याहार और धारणा द्वारा की जाती है। बुद्धि के कर्मों का नियोजन धारणा और ध्यान द्वारा किया जाता है। चित्त के कर्मों अर्थात् स्मृतियों और संस्कारों का प्रबन्धन मानस-दर्शन, मंत्र तथा यंत्र के माध्यम से किया जाता है। और अहंकार के कर्मों का नियंत्रण एक ऐसी विरोधी शक्ति द्वारा किया जाता है जो अहंकार के समान ही बलशाली, लेकिन स्वभाव से सौम्य और सकारात्मक होती है। और वह शक्ति है विनम्रता की। अहंकार सिर उठाता है जबकि विनम्रता हमारा सिर झुका देती है।

बन्धन पैदा करने वाले कर्म

यह स्मरण रहे कि कर्म सर्वव्यापक और सार्वभौमिक होता है। हम सभी इसके अंश हैं; आखिर हम आद्य कर्म की अभिव्यक्ति जो हैं।

प्रकृति का कर्म है हमें एक स्थूल शरीर प्रदान करना। जिस क्षण हम इस स्थूल शरीर में प्रवेश करते हैं, हम प्रकृति के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं। जिस क्षण हम नाम, रूप और गुण धारण करते हैं, हम प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। प्रकृति चेतना के विस्तार को अवरुद्ध करती है। इसलिए, चेतना के विषय में हमारा ज्ञान और अनुभव हमारी अभिव्यक्तियों और अनुभूतियों तक सीमित है। हमारे गुण और हमारे संस्कार, स्वभाव, मूल प्रवृत्तियाँ और इन्द्रियाँ हमें सर्वव्यापी चेतना का अनुभव नहीं करने देते।

हम सभी मन के निम्न, विषयासक्त स्तर पर ही अटके हैं। शायद ही कभी हम अपने आप को उच्च, विवेकशील मन के स्तर पर ला पाते हैं। एक



गाँव में एक पण्डित रहा करते थे। संकट-विपत्ति के समय वे लोगों के घरों में जाकर उन्हें समझाया-बुझाया करते थे। एक दिन वे एक परिवार के यहाँ गए, जहाँ एक गाय की मृत्यु हुई थी, और उन्हें जीवन-मृत्यु के विषय पर बड़ा ही सुन्दर प्रवचन दिया। प्रवचन से परिवार-वालों को बहुत सांत्वना और शान्ति मिली। घर लौटने पर पण्डित जी ने अपनी पत्नी को रोते हुए पाया। पूछने पर मालूम चला कि उनकी बकरी मर गयी थी। पण्डित जी भी शोकाकुल हो रोने लगे। उधर से जा रहे एक राहगीर ने, जिसने पण्डित जी के सुबह के प्रवचन

को सुना था, रुकर पूछा कि क्या बात हो गई। पण्डित जी ने सारी बात बता दी। राहगीर ने कहा, 'कुछ ही घण्टे पहले तो आप शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता पर कितना सुन्दर उपदेश दे रहे थे।' पण्डित जी ने कहा, 'गाय तो उसकी थी, पर बकरी तो मेरी है।'

यह कहानी इस बात को दर्शाती है कि जब कोई संकट हमारे सिर पर आ जाता है तब ज्ञान और विवेक के रहते हुए भी हम मन के निम्न स्तर पर आ जाते हैं। उच्चतर मन का अनुभव होने पर भी हम निम्न मन की चपेट में आ जाते हैं। प्राय: बहुत-सी चीजें जिनमें हमारी रुचि रहती है, हमारे लिए अनावश्यक होती हैं, वे मात्र हमारी संतुष्टि के लिए होती हैं। हम भली-भाँति जानते हैं कि जो हम कर रहे हैं वह सही नहीं है, लेकिन अपनी तुच्छ स्वार्थ-सिद्धि के लिए हम सभी व्यवस्थाओं, अनुशासनों, आचार-विचारों और नैतिकताओं को किनारे कर उस काम में जान-बूझ कर लग जाते हैं। ऐसा हमारे निम्न मन, निम्न बुद्धि, निम्न चित्त तथा निम्न अहंकार के कारण होता है।

निम्न मन से ऊपर उठो

कर्मों की उत्पत्ति मन में होती है और उच्चतर मन से सम्बन्ध जोड़ने के लिए हमें पहले पूर्ण सजगता और समझदारी के साथ अपने निम्न मन की अभिव्यक्ति और आचरण से निपटना होगा। यह कैसे किया जाए?

तोड़ो और जोड़ो – अपने निम्न मन की सीमाओं से ऊपर उठो, अपने आप को उच्च मन में स्थापित करो ताकि मनस् की अभिव्यक्ति स्वार्थपरक नहीं, स्वार्थरहित हो। बुद्धि की अभिव्यक्ति आत्म-तुष्टि के लिए न हो, बल्कि वह हमें रचनात्मक ढंग से संसार में कार्य करने के लिए प्रवृत्त करे। चित्त की जो स्मृतियाँ हमें सम्बन्धों और आसक्तियों के दायरे में बाँधकर रखती हैं, उनसे भी हमें ऊपर उठना है। चित्त के उच्चतर आयाम में प्रवेश करने के लिए वैराग्य और अनासक्ति का विकास करो। अगर आसक्ति है तो इसका मतलब तुम चित्त के निम्न आयाम में हो, जहाँ तुम्हारा पूरा ध्यान विषय-भोग और विषय-सुख में ही केन्द्रित है। अनासक्त भाव के जागृत होने पर विषय-वस्तुएँ तो अपनी जगह बनी रहती हैं, लेकिन उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह सब कर पाने के लिए हमारा आन्तरिक वातावरण संतुलित होना चाहिए।

गर्मी के दिनों में तुम धूप में सिर्फ पाँच मिनट के लिए बैठ सकते हो, लेकिन जाड़े के दिनों में आराम से लम्बी अवधि तक बैठ सकते हो। सूर्य

तो वही है लेकिन एक मौसम में तुम देर तक धूप में रह सकते हो जबकि दूसरे मौसम में नहीं। शरद, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुएँ प्रकृति की विभिन्न मनोदशाएँ हैं। हर एक मौसम में तुम वातावरण में परिवर्तन देखते हो और अपने भीतर भी वैसा ही बदलाव पाते हो।

जिस प्रकार विभिन्न मौसम प्रकृति की विभिन्न मनोदशाएँ दर्शाते हैं, उसी प्रकार हमारी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ और प्रतिक्रियाएँ हमारी आन्तरिक मनोदशाएँ दर्शाती हैं। कभी तुम गुस्से में होते हो तो कभी सौम्यावस्था में, कभी प्रसन्न तो कभी चिन्तामग्न। ये सभी व्यवहार हमारी मनोदशा से निर्देशित होते हैं। एक प्रसन्नचित्त व्यक्ति को सारी दुनिया में खुशहाली ही दिखलाई पड़ती है, जबकि एक दु:खी और हताश व्यक्ति के लिए चारों ओर निराशा ही छायी रहती है। जिन विषयों और वस्तुओं से जीवन में द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, लगाव पैदा होता है, उनके प्रति अनासक्ति विकसित करने से हम चित्त के एक उच्च स्तर पर आ जाते हैं, जहाँ हमारी स्मृति लोकोत्तर हो जाती है। जब स्मृतियाँ लौकिक होती हैं तब तुम भौतिक, वस्तुनिष्ठ चीजों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हो और जब स्मृतियाँ लोकोत्तर होती हैं तब तुम आत्मनिष्ठ विषयों से जुड़ते हो।

पहले हमें निम्न मन की सभी अनुभूतियों के प्रति सजग हो जाना है और फिर शनै:-शनै: स्वार्थपरक प्रवृत्ति से ऊपर उठकर एक नि:स्वार्थ प्रवृत्ति को धारण करना है, अहंकार को क्षीण कर एक उच्च तत्त्व से जुड़ने का प्रयास करना है। चित्त, बुद्धि और अहंकार से परे यह उच्च तत्त्व कौन-सा है? यह है आत्मा। नि:स्वार्थ प्रवृत्ति का सम्बन्ध आत्मा से होता है।

वृत्तियों का दिशान्तरण – योग दर्शन का कहना है *'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'* अर्थात् योग चित्तवृत्तियों का निरोध करता है। यहाँ पर निरोध शब्द का प्रयोग किया गया है, अवरोध या विरोध शब्द का नहीं। निरोध का अर्थ होता है दिशान्तरण। चित्तवृत्तियों की व्याख्या प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के रूप में की गई है। स्मृति चित्त का अंश है और साथ ही एक वृत्ति भी। निद्रा एक मूल-प्रवृत्ति है और एक व्यवहार भी। जब ये मानसिक वृत्तियाँ अन्तरात्मा की ओर दिशान्तरित की जाती हैं तब एक नई वृत्ति जन्म लेती है, जिसे ब्राह्मी वृत्ति कहते हैं।

यह मन की एक उच्चतर अवस्था है जिसमें मनुष्य जीवन का द्रष्टा बन जाता है और साथ ही एक उच्चतर प्रयोजन, परमार्थ से जुड़ जाता है। सामान्य

व्यवहार और कर्म करते हुए भी वह सर्वदा उच्चतर प्रयोजन के प्रति सजग रहता है और उसी के सम्बन्ध में चिन्तन करता है। मन, जो अब तक इन्द्रिय-विषयों से जुड़ा था, अब उच्चतर लक्ष्य के साथ जुड़ जाता है। मनुष्य भौतिक जीवन की सीमाओं को पार कर जाता है और उच्च चेतना में स्थापित हो जाता है जहाँ वह जीवन की, आत्मा की, परम तत्त्व की महानता और व्यापकता का अनुभव करता है।

हमारे ऋषि-मुनि गहन चिन्तन-मनन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में सभी मनुष्यों को अपरा और परा, दोनों पुरुषार्थों को सिद्ध करना है। इसलिए उन्होंने सलाह दी कि अपने जीवन का आधा भाग तुम अर्थ और काम विषयक पुरुषार्थों की पूर्ति में लगाओ और जीवन का शेष भाग धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों की पूर्ति में। पहले दो पुरुषार्थ अपने हित, अपने स्वार्थ के लिए होते हैं और अंतिम दो पुरुषार्थ जीवन में उच्चतर अनुभव प्राप्त करने के लिए।

इच्छाओं पर नियंत्रण–हमारे दु:ख और कष्ट का कारण मात्र हमारी इच्छाएँ नहीं। इच्छाएँ तो सभी जीवों में होती हैं। लेकिन मनुष्य को इस बात की जानकारी होती है कि उसकी इच्छाएँ हैं, कामनाएँ हैं, आकांक्षाएँ हैं। पशु-पक्षियों में यह ज्ञान नहीं होता। हमें अपनी इच्छाओं का ज्ञान होता है और जब इन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती तो यह अभाव हमें खलता है। इसलिए इच्छाएँ हमारे जीवन में एक प्रबल शक्ति बन जाती हैं। मन तक पहुँचने के लिए हमें पहले अपनी इच्छाओं को व्यवस्थित करना होगा। यह आवश्यक नहीं कि उन्हें जड़ से ही समाप्त कर दिया जाय, लेकिन जिस तरह हम एक पेड़ की निश्चित ऊँचाई बनाए रखने के लिए उसकी काट-छाँट करते रहते हैं, उसी तरह हमें अपनी इच्छाओं को भी नियंत्रण में रखना है ताकि हम अपने जीवन के सभी जरूरी काम-काज ठीक ढंग से करते रहें और अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते रहें।

इच्छाएँ और कामनाएँ सभी में होती हैं, संन्यासियों में भी। अन्तर इतना ही है कि संन्यासी अपनी कामनाओं का साक्षी बनने का प्रयास करता है, जबकि गृहस्थ इच्छाओं में ही आकण्ठ डूब जाता है। यह मनोवृत्ति का, भावना का, दृष्टिकोण का बदलाव मात्र है। इसलिए उन इच्छाओं को काट-छाँटकर हटा दो जो जीवन के लिए लाभदायक नहीं हैं, और उन्हीं को बनाए रखो जो लाभदायक हैं। यही तरीका है अपने मन को स्वार्थ से नि:स्वार्थ की ओर दिशान्तरित करने का।

प्रत्याहार एवं धारणा–विचारों, भावनाओं एवं मन की अन्य अभिव्यक्तियों को व्यवस्थित करने के लिए प्रत्याहार एवं धारणा का अभ्यास आवश्यक है। प्रत्याहार का अर्थ क्या है? जो कुछ तुम अपने मन में भरते जाते हो अर्थात् सभी विचारों; सभी महत्त्वाकांक्षाओं; सभी इच्छाओं; लाभ-हानि, सफलता-विफलता के साथ सभी सम्बन्धों, उन सबकी समुचित कटाई-छँटाई करते जाना।

जब तुम्हें टिफिन में भोजन मिलता है, तुम आवश्यकता अनुसार भोजन अपनी थाली में निकाल लेते हो और बचे भाग को टिफिन में बन्द करके वापस कर देते हो। इसी सिद्धान्त को हमें प्रत्याहार के सन्दर्भ में समझना और लागू करना है, ताकि हम अपने विचारों, भावनाओं और मनोवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए अनुपयोगी चीजों को छाँट कर हटा दें। प्रत्याहार का यह पहला अर्थ है। दूसरा अर्थ है मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को शान्त करना और सजगता को अन्तर्मुखी बनाना।

इस प्रकार प्रत्याहार का अभिप्राय कर्मों के प्रति सजग होने से है। जो कर्म उपयोगी हैं उन्हें धारण करना है और जो अनुपयोगी हैं उन्हें निकाल फेंकना है। अपने जीवन के कूड़े-करकट को निकाल कर फेंकते रहो। प्रत्याहार से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की सफाई होती है और फिर धारणा द्वारा वे एकाग्र होते हैं। धारणा वह अवस्था है जहाँ मन की विक्षिप्त ऊर्जाएँ किसी एक बिन्दु, विचार या भावना पर केन्द्रित हो जाती हैं। वहाँ चंचलता का अनुभव नहीं होता, बल्कि स्थिरता और शांति रहती है। मन के कर्मों को व्यवस्थित करने के लिए, बुद्धि को सही दिशा प्रदान करने के लिए प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास आवश्यक हैं। जहाँ तक ध्यान की बात है, यह आन्तरिक अनुभूति की एक ऐसी अवस्था है जहाँ शरीर की चेतना नहीं रहती, जहाँ 'मैं' की सजगता विलुप्त हो जाती है। धारणा की सहायता से हम ध्यान की अवस्था प्राप्त कर सकते हैं और अपनी बुद्धि को, जो अभी भौतिक जीवन में रत है, अपनी आत्मा से जोड़ सकते हैं।

चित्त शुद्धि–मनस् को व्यवस्थित करने के लिए प्रत्याहार और धारणा का उपयोग करो; बुद्धि को व्यवस्थित करने के लिए धारणा और ध्यान का प्रयोग करो। और चित्त के लिए चित्त शुद्धि का अभ्यास करो। जिस प्रकार से कम्प्यूटर में जानकारियाँ इलेक्ट्रॉनिक रूप में रखी रहती हैं, उसी तरह जीवन की जानकारियाँ चित्त में स्मृतियों के रूप में रखी जाती हैं। ये स्मृतियाँ मात्र इसी



जीवन से सम्बन्धित नहीं होतीं, बल्कि कई पूर्वजन्मों से सम्बन्धित होती हैं। लेकिन प्रकृति ने इन स्मृतियों पर ताला लगा रखा है, नहीं तो गड़बड़ी और अव्यवस्था हो जाएगी। जो लोग अपने आप को अपरा से परा अवस्था में ले जा सके हैं, वे ही अपने पूर्वजन्मों की जानकारियाँ प्राप्त कर सके हैं। उदाहरण के तौर पर महात्मा बुद्ध। उन्हें अपने अनेक पूर्वजन्मों का वृत्तान्त ज्ञात था, जिन्हें आज हम जातक कथाओं के नाम से जानते हैं। लेकिन एक सामान्य व्यक्ति के लिए इसी जीवन की स्मृतियाँ उपलब्ध रहती हैं।

हमारी स्मृतियों पर गुणों का असर पड़ता है। जब ये स्मृतियाँ उभरती हैं, तब ये हमारे पूर्वजन्मों की मानसिकता से रंगी होती हैं, और ये हमें अनायास नीचे की ओर खींचती हैं। इसलिए चित्त की शुद्धि जरूरी है ताकि उभरती स्मृतियों के नकारात्मक तत्त्वों की पहचान हो सके और उन्हें रूपान्तरित किया जा सके। हमें उन स्मृतियों, अनुभवों, संस्कारों और जानकारियों को आगे लाना है जो हमारे विकास में सहायक हो सकते हैं।

मंत्र, यंत्र और भक्ति के साधन– चित्त तक पहुँचने का रास्ता मंत्र, यंत्र और भक्ति से होकर जाता है। भक्ति स्थूल भावनाओं का परिष्कार करती है

और उनमें आध्यात्मिकता का रंग घोलती है, मंत्र चित्त के लिए झाड़ू का काम करते हैं, और यंत्र चित्त की छिपी हुई चीजों को बाहर निकालते हैं। जिस प्रकार हम एक टॉर्च से अंधेरे में रास्ता देख सकते हैं, उसी प्रकार यंत्र हमें चित्त के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराने में सहायक होते हैं। जब हम किसी उपयुक्त यंत्र पर एकाग्रता का अभ्यास करते हैं तब मन पुनर्संयोजित होता है। इससे चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि का प्रथम संकेत है मन का शान्त होना और उसकी ऊर्जा में वृद्धि होना। मंत्रों से यही परिणाम प्राप्त होता है। इसके बाद चित्त की गहराइयों में प्रवेश करने के लिए किसी यंत्र पर एकाग्रता का अभ्यास किया जा सकता है। और फिर भक्ति द्वारा चित्त की विभिन्न अभिव्यक्तियों को सुव्यवस्थित और सुसंगठित कर उन्हें ईश्वराभिमुख करना चाहिए। इस प्रकार हम चित्त को परम चेतना से जोड़ सकते हैं, उसे अपरा से परा अवस्था में स्थापित कर सकते हैं।

भक्ति का अभ्यास अपनी रुचि अनुसार ईश्वर के प्रति, गुरु के प्रति या मानवता के प्रति किया जा सकता है। भक्ति की उपलब्धि क्या है? श्रीमद्‌भगवद् गीता में कहा गया है –

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥12.13॥

भक्त किसी से द्वेष नहीं करता, सभी के प्रति मित्रता और करुणा का भाव रखता है, आसक्ति और अहंकार से मुक्त रहता है, दुःख और सुख दोनों में समभाव रखता है और क्षमाशील होता है।

मंदिर में घण्टी बजाना या वहाँ पर कुछ समय ईश्वर-ध्यान में व्यतीत करना ही भक्ति नहीं। यह भक्ति का केवल एक पक्ष है। भक्ति मन की ऐसी विशुद्ध अवस्था है जिसमें द्वैत भाव का पूर्णतया अतिक्रमण हो जाता है। तुम अपने आप को हर तत्त्व में, हर प्राणी में देख सकते हो। किसी के प्रति तुम्हारी आसक्ति नहीं होती, तुम सभी बन्धनों से स्वतंत्र हो जाते हो। तुम सभी के हितैषी बन जाते हो। तुम्हारी करुणा समस्त जगत् की ओर प्रवाहित होती है, सिर्फ सगे-सम्बन्धियों के प्रति नहीं। इसलिए भक्ति को भगवान की सिर्फ पूजा-अर्चना मत समझो, यह तुम्हारे जीवन को बदलने की विधि है। द्वैत भाव से ऊपर उठकर सारे संसार की एकता को समझने की विधि है। चित्त शुद्धि के यही आधार हैं।

विनम्रता की शक्ति– अहंकार का शमन हम विनम्रता से कर सकते हैं। विनम्रता को कमजोरी मत समझो; यह एक अति प्रबल शक्ति है। अहंकार का शमन उससे अधिक बलशाली ऊर्जा ही कर सकती है। विनम्रता ही वह शक्ति है जो हमें अहंकार-जनित कर्मों के परिणामों से मुक्त करा सकती है।

कर्मयोग मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार को पुनर्गठित करने का साधन है। इन चारों के संतुलित हो जाने पर गुण भी संतुलन की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं और मूल प्रवृत्तियाँ, संस्कार, स्वभाव और इन्द्रिय-आसक्तियाँ स्वत: शान्त हो जाती हैं।

सभी कर्म, चाहे वे संसार और उसके विषयों से जुड़े हों या जीवन के किसी उच्च प्रयोजन और ईश्वर से, मन में ही उत्पन्न होते हैं। योग का अर्थ है जुड़ना, समीप आकर एक हो जाना। जब कर्मों में समत्व की अवस्था आती है और उनकी संतुलित अभिव्यक्ति होती है तब यह कर्मयोग कहलाता है। जब तक अशान्ति और बिखराव रहता है, मात्र कर्म होता है। अब तक तो सभी लोग अपने मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार के वशीभूत होकर कर्म करते आए हैं। अहंकार कहता है, 'वह व्यक्ति तुम्हें अपमानित कर रहा है। उसे दो थप्पड़ लगा दो।' और हम आगे बढ़कर उसे दो थप्पड़ जड़ देते हैं। बुद्धि कहती है, 'वह कितनी सुन्दर कार है, तुम उसे खरीद लोगे तो सारे शहर में लोग तुम्हें जान जाएँगे।' और हम जाकर कार खरीद लेते हैं। जिन कर्मों को तुम संसार से आसक्ति के कारण करते हो वे अपरा अवस्था के कर्म होते हैं। अगर तुम कर्मों से मुक्त होकर समत्व की अवस्था प्राप्त करना चाहते हो, भौतिक एवं आध्यात्मिक स्तरों का समन्वय चाहते हो तो तुम्हें परा अवस्था में आना होगा। यही कर्मयोग का सिद्धान्त है।

श्रद्धा और विश्वास का विकास

जब तुम ऐसी परिस्थितियों में पड़ते हो जहाँ तुम्हारा वश नहीं चलता, तब तुम्हारा अपने स्वभाव से सामना होता है। जब लगाम तुम्हारे हाथ में होती है तब अपने स्वभाव का सामना करना जरूरी नहीं होता। तुम जैसे चाहो अपना रास्ता निकाल सकते हो। लेकिन जब परिस्थिति तुम्हारे नियंत्रण में नहीं होती और तुम्हें किसी दूसरे की बात सुननी पड़ती है, चाहे वे तुम्हारे गुरु ही क्यों न हों, तब एक समय आता है जब उनके आदेश के प्रति विरोध उत्पन्न होता है। विरोध और अवज्ञा की यह स्थिति न आए, इसके लिए तुम्हें श्रद्धा और विश्वास का अर्जन करना होगा।

तुमने तिब्बत के प्रख्यात सन्त, मिलारेप्पा और उसके गुरु मारपा की कहानी सुनी होगी। मारपा ने मिलारेप्पा को आध्यात्मिक शिक्षा देने के बजाय उससे कठिन परिश्रम करवाया। उसने मिलारेप्पा को पहाड़ी के शिखर पर पत्थरों से एक कुटिया बनाने को कहा और जब कुटिया बन कर तैयार हो गई तब उसे गिराकर दूसरे स्थान पर बनाने को कहा। गुरु ने मिलारेप्पा से बार-बार यही काम करवाया। फिर एक दिन मारपा ने मिलारेप्पा को बेहद आलसी कहकर पहाड़ी से धक्का दे दिया और मिलारेप्पा नीचे खाई में गिर गया। वह जब नीचे गिर रहा था तब उसके मन में मात्र यही विचार आ रहा था– 'मैंने गुरु के आदेश का पूर्णतया पालन नहीं किया है' और जिसके पहले कि उसका शरीर नीचे चट्टान पर गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता, एक अदृश्य हाथ ने वहाँ प्रकट होकर उसे नीचे गिरने से रोक लिया और उसे उठाकर गुरु के सामने खड़ा कर दिया। तब मारपा ने कहा 'मिलारेप्पा, आज तुम मुझसे भी श्रेष्ठ हो गए!'

मिलारेप्पा की जगह अगर तुम होते तो क्या अपने गुरु के आदेश का पालन करने के लिए ऐसी जी-तोड़ मेहनत करते? नहीं, कोई नहीं कर सकता। गुरु ने मिलारेप्पा में निहित सम्भावना को पहचाना। उन्होंने देखा कि ध्यान सिखाने के बजाय उसके कर्मों का क्षय करवाकर वे उसे अपने से भी श्रेष्ठ बना सकते हैं। स्वामी शिवानन्द जी ने भी स्वामी सत्यानन्द जी को यही बात कही, 'कठोर परिश्रम करो, अपने आपको कर्मयोग में लगा दो। तुम्हारे अन्दर की ज्योति स्वयं प्रकाशित होगी।' गुरु ने शिष्य की योग्यता और गुण को पहचाना और उस गुण को विकसित करने के लिए प्रेरित किया।

मुक्ति की खोज में

जिस प्रारब्ध कर्म के साथ हम इस जीवन में आते हैं वह हमारे जीवन को एक लक्ष्य, एक प्रयोजन प्रदान करता है और हमारे विकास के लिए एक स्वतंत्र दिशा प्रदान करता है। अनेकों बार शिक्षा, समाज और परिवार की जिम्मेदारियों के कारण जीवन की दिशा परिवर्तित हो जाती है। तब हमारा जीवन एक अलग दिशा की ओर अग्रसर हो जाता है और हम कर्मों की एक नई गठरी इकट्ठी कर लेते हैं।

हम इस संसार में अपने नियत मार्ग का अनुसरण करने के लिए आए हैं। आत्मा स्वतंत्रता चाहती है। आत्मा उन सभी परिस्थितियों से परहेज करना चाहेगी जहाँ उसे बन्धन में पड़ना पड़े। स्वतंत्रता की इस कामना को मोक्ष

या मुक्ति के रूप में समझा जाता है। यदि आत्मा अपने आप को स्थूल कर्म बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास ही न करे तो मोक्ष की अवधारणा भी नहीं रहेगी। यदि कहीं बीमारी ही नहीं हुई होती तो फिर चिकित्सा विज्ञान का उदय भी नहीं होता। चिकित्सा विज्ञान तो इसीलिए आया कि हम रोगों के दुष्परिणामों से मुक्त होना चाहते हैं। इसी तरह आध्यात्मिक विद्याओं का विकास इसलिए हुआ कि हम समाज, परिवार और संसार के स्थूल सम्बन्धों और बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं।

हम अपने जीवन में अनेकों भूमिकाएँ अदा करते हैं। जब हम बच्चे थे तब हमने एक भूमिका निभाई, जब हम बड़े हो गए तब हमारी भूमिका अलग हो गई। चिन्तन की प्रक्रिया बदल गई, आकर्षण बदल गए, विचार बदल गए, मान्यताएँ बदल गईं। हर एक परिस्थिति में, हर एक अवस्था में हमने भिन्न प्रकार से व्यवहार किया है। व्यवहार में परिवर्तन परिपक्वता से आता है। हमारी समझ पहले से बेहतर होती जाती है। बेहतर समझ परिपक्वता की परिचायक है और नासमझी अपरिपक्वता की।

कर्मों के पाँच प्रकार

जीवन में जब कर्म अभिव्यक्त होते हैं तब पाँच प्रकार के कर्म दिखाई पड़ते हैं–

स्वार्थपरक और निःस्वार्थ कर्म– अहंकार और मानसिक कर्म जुड़कर स्वार्थपरक कर्मों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उन्हें सकाम कर्म भी कहा जाता है। वे अपनी आवश्यकताओं और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। दूसरे प्रकार का कर्म है निष्काम या निःस्वार्थ कर्म, जो दूसरों की सहायता के लिए किया जाता है। सकाम का अर्थ है कामना सहित और निष्काम का अर्थ कामना रहित। निष्काम कर्म अपने लिए नहीं होता। हम अपने लिए जो भी करेंगे वह सदा सकाम होगा। 'मुझे भोजन चाहिए, मुझे वस्त्र चाहिए, मुझे आराम चाहिए'– जब तक 'मुझे चाहिए' का विचार रहता है तब तक वह कर्म स्वार्थपरक होता है, सकाम होता है। दूसरी तरफ है निष्काम कर्म– कामना रहित। कामना रहित होने का मतलब यह नहीं कि मन कामनाओं से रहित है, बल्कि यह तात्पर्य है कि ये कामनाएँ स्वार्थपरक नहीं हैं। कामना तो है लेकिन वह व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, जन-कल्याण के लिए है।

सामाजिक कर्म– दूसरे प्रकार के कर्म को सामाजिक कर्म या परोपकार कहा जाता है। ऐसा कर्म किसी व्यक्ति-विशेष तक सीमित न होकर समस्त समाज

को प्रभावित करता है। स्वार्थपरक वृत्तियों और कामनाओं से ऊपर उठने के लिए सामाजिक, परोपकारी कर्मों का सम्पादन आवश्यक है।



अगर हम विभिन्न आध्यात्मिक परम्पराओं के संत-महात्माओं के जीवन पर दृष्टि डालें तो पाएँगे कि उन सभी ने अपने जीवन की किसी-न-किसी अवस्था में अपने आप को परोपकार में संलग्न रखा। चाहे वे एसीसी के संत फ्रांसिस हों, स्वामी शिवानन्द जी हों या स्वामी सत्यानन्द जी।

परोपकार वह करुणामयी शक्ति है जो हमें सेवा करने के लिए प्रेरित करती है। परोपकार सामाजिक कर्म है, जिससे समाज का कल्याण होता है। समाज में केवल मनुष्य ही नहीं, अन्य प्राणी भी आते हैं। अनेक साधु-संतों ने पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों तक की सेवा की है, क्योंकि करुणा का जो भाव अन्दर से उत्पन्न होता है वह सृष्टि के सभी प्राणियों के लिए होता है।

अनेक महात्माओं ने ऐसे जीव-जन्तुओं की रक्षा की है, जो अपनी दु:ख-पीड़ा को अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं थे। उन्होंने उनकी दु:ख और पीड़ा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा, उन प्राणियों के अन्दर विद्यमान आत्मा से अपना नाता जोड़ा। कुछ लोग मानव-समुदाय के साथ, कुछ पशु-समुदाय से और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पेड़-पौधों से तादात्म्य स्थापित करते हैं।

ये सामाजिक कर्म श्रद्धा के बल पर और भी शक्तिशाली बन जाते हैं। श्रद्धा के रहने पर तुम वास्तविक परोपकार कर सकते हो। बिना श्रद्धा के तुम बस अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए एक सामाजिक क्लब ही बना सकते हो। जब श्रद्धा और विश्वास कर्म का अंग बनते हैं तभी वह परोपकार बनता है। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को यही संदेश दिया – अनेकों के कल्याण के लिए, अनेकों के सुख के लिए, हे साधु, हे संन्यासी, हे भिक्षु, चलते रहो,

काम करते रहो, सतत् प्रयत्नशील रहो। जब तुम अपने अन्तर्निहित दैवी सद्‌गुणों को व्यक्त करते हो, उन्हें जीवन्त बनाकर सबसे जुड़ते हो, वही सच्चा परोपकार होता है। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा भी है कि सेवा, प्रेम और दान ही आध्यात्मिक जीवन की परम अभिव्यक्ति है।

प्रारब्ध कर्म– तीसरे प्रकार का कर्म होता है प्रारब्ध कर्म। प्रारब्ध क्या है? प्रकृति के नियम और मानव जाति पर इन नियमों का प्रभाव प्रारब्ध कर्म कहलाता है। शरीर का प्रारब्ध कर्म क्या है? जन्म, व्याधि, क्षय और मृत्यु। इस कर्म को कोई बदल नहीं सकता। कोई भी शरीर को वृद्धावस्था प्राप्त करने से रोक नहीं सकता, चाहे तुम कितने ही लेप-उबटन क्यों न लगाओ या कितने ही घण्टे व्यायाम-कसरत में क्यों न बिताओ। सारी कोशिशों के बावजूद इस शरीर का दिन-प्रति-दिन क्षय होगा ही। शरीर का यही कर्म है और इस प्रारब्ध कर्म को कोई बदल नहीं सकता। मन के साथ भी यही बात लागू होती है। मन को खुश रखने के लिए तुम जो भी करो, लेकिन मन अपने ही ढंग से विकसित होता रहेगा क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के अधीन है। प्रारब्ध कर्मों पर किसी का नियंत्रण नहीं होता और ये कर्म सिर्फ जन्म, व्याधि, जरा और मृत्यु से ही सम्बधित होते हैं।

संचित कर्म– चौथे प्रकार का कर्म है संचित कर्म। इसका तात्पर्य उन कर्मों, अनुभवों और गतिविधियों से है जिनकी छाप व्यक्ति की चेतना पर पड़ तो गई है, पर ये अभी तक उसके जीवन को प्रभावित नहीं कर सके हैं। पूर्वजन्मों में किए गए ये कर्म कहीं पर फिक्स्ड डिपोज़िट की तरह पड़े हैं, अभी इनके परिपक्व होने में समय है। तुमने अपने पूर्वजन्मों में जो कुछ भी किया, वह सब तुम्हारे अवचेतन मन में जमा होता जाता है और इसलिए संचित कर्म कहलाता है।

प्रारब्ध कर्मों को मिटाना असम्भव है। नियति बदली नहीं जा सकती। लेकिन अन्य कर्मों को बदला जा सकता है। अगर तुम्हारे अवचेतन मन में कुछ संस्कार हैं और तुम चाहते हो कि वे अंकुरित न हों तो तुम उन्हें हटा सकते हो, बशर्ते तुम्हें इसकी विधि मालूम हो। तुम अपने अवचेतन मन में छिपे संस्कारों में हेर-फेर कर सकते हो, अपने चेतन मन में व्यक्त हो रहे क्रियमाण कर्मों में बदलाव ला सकते हो, लेकिन तुम उन प्रारब्ध कर्मों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जो तुम्हें वर्त्तमान में सुख और दु:ख के रूप में प्राप्त हो रहे हैं। अगर तुम हस्तक्षेप करने की कोशिश करते भी हो तो वे दुगुनी ताकत से लौटकर आएँगे।

दैव कर्म– पाँचवें प्रकार का कर्म है दैव कर्म या परमार्थ कर्म, अर्थात् अपने जीवन में आध्यात्मिकता, दिव्यता और शुचिता का विकास करने वाले प्रयास। तुम्हारी आध्यात्मिक साधना दैव कर्म है, ध्यान का अभ्यास दैव कर्म है। सामंजस्य और शांति की कामना और इस कामना की पूर्ति के लिए किये गये सभी उचित प्रयास दैव कर्म हैं।

संक्षेप में, प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन जीना प्रारब्ध कर्म है। करुणा, सहानुभूति और सहृदयता जैसे सकारात्मक गुणों का विकास करते हुए दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करना परोपकार या सामाजिक कर्म है। किसी की उसके दु:ख-दर्द से उबारने में मदद करना निष्काम कर्म है। और अपने किसी व्यक्तिगत प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयास करना सकाम कर्म है।

पाँच प्रकार के कर्मों के साथ सम्बन्ध

कर्मों से हमारा सम्बन्ध, कर्मों में हमारी भूमिका केवल सकाम, निष्काम और परोपकार कर्मों तक सीमित है। मानव-व्यवहार के यही तीन कार्यक्षेत्र हैं – मैं, तुम और समाज। जहाँ तक प्रारब्ध कर्मों का प्रश्न है, शरीर को तो उन्हें भोगना ही है। बाल सफेद होंगे ही, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ेंगी ही।

दैव कर्म या परमार्थ कर्म उसी के द्वारा किए जाते हैं, जिसने स्वयं को परम तत्त्व के प्रति समर्पित कर दिया है। तब भगवान तुम्हारे जीवन की बागडोर अपने हाथों में ले लेते हैं, और तुम्हें अपना निमित्त बना कर, अपने हाथों की मुरली बनाकर मनचाही धुन बजाते हैं। जैसा कि संत फ्रांसिस ने अपनी प्रसिद्ध प्रार्थना में कहा भी है, 'हे प्रभु, मुझे अपनी शान्ति, अपने प्रेम का माध्यम बनने दो।' यह तभी सम्भव होता है जब समर्पण सम्पूर्ण हो जाता है। जब तक तुम अपने अहंकार के वशीभूत रहते हो, तब तक यह सम्भव नहीं। अपने कर्मों के सभी स्तरों पर – सकाम, निष्काम और परोपकारी, तुम अपने अहंकार से जुड़े रहते हो। प्रारब्ध में कोई अहंकार नहीं होता क्योंकि तुम जानते ही नहीं कि आखिर तुम्हारा प्रारब्ध है क्या और उसे कैसे सम्भाला जाए। और दैव कर्म में भी कोई अहंकार नहीं होता, क्योंकि तुम कर्त्ता नहीं होते। *नाहं कर्त्ता, हरि: कर्त्ता*– ईश्वर या गुरु ही कर्मों के निर्देशक होते हैं।

इन चार दिनों में मैंने कर्मों की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है, लेकिन अब निष्कर्ष में मैं तुम्हें अहंकार तथा सकाम, निष्काम एवं परोपकार कर्मों के दायरे

में अपना ध्यान केन्द्रित करने को कहूँगा। इन चार चीजों को तुम ठीक तरह से सम्भाल लो तो तुम एक कर्मयोगी बन जाओगे। जब हम इन चारों को सही ढंग से सम्भालने में समर्थ हो जाते हैं तब हम संसार की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से अप्रभावित रहते हैं। ऐसा तटस्थ भाव विकसित कर पाना कोई सरल काम नहीं, क्योंकि हम सभी बहुत संवेदनशील होते हैं।

एक बार एक व्यक्ति मेरे पास आया और कहने लगा, 'स्वामीजी, मैं उच्च रक्तचाप से पीड़ित हूँ।' मैंने पूछा, 'इस उच्च रक्तचाप का कारण क्या है? इसकी शुरुआत कैसे हुई, याद है क्या?' उसने उत्तर दिया, 'हाँ, मुझे याद है। मैं लगभग छः साल पहले सेवा-निवृत्त हुआ था। एक दिन सबेरे घर में चाय पीते हुए अखबार पढ़ रहा था और दूरदर्शन देख रहा था। मेरी बहू, जो उस सुबह गुस्से में थी, कमरे में वैक्यूम-क्लीनर से सफाई कर रही थी। मैंने उसे दबी अवाज में बड़बड़ाते सुना कि मेरे ससुर दिन-भर सोफे पर कुत्ते की तरह बैठे रहते हैं। मैंने उससे कुछ कहा तो नहीं लेकिन मैं आज तक वह वेदना अपने दिल में ढो रहा हूँ। और मैं जानता हूँ कि मेरी व्याधि का यही कारण है। मैं इस बीमारी से छुटकारा पाने के लिए कौन-से अभ्यास करूँ?'

मैंने कहा, 'अभ्यास तो बाद में बतलाएँगे, पहले यह बताओ कि जब तुम्हारी बहू ने तुम्हे कुत्ता कहा तब तुम्हारे मन में किस प्रकार के कुत्ते का दृश्य आया?' उसने कहा, 'एक मरियल, सड़क-छाप कुत्ते का।' तो मैंने कहा, 'तुम्हारा रक्तचाप तुम्हारी बहू के कटाक्ष के कारण नहीं, बल्कि उस सड़क-छाप कुत्ते के कारण है जिसका चित्र तुमने अपने मन में बसा लिया है और जिसके साथ तुमने अपनी पहचान बना ली है।' उसने पूछा, 'स्वामीजी, तब इस समस्या से निपटने के लिए मैं क्या करूँ?' मैंने कहा, 'तुम यह सोचते रहो कि तुम एक कुत्ते हो, लेकिन सड़क-छाप कुत्ते के बजाय अपने आपको एक रईस मेमसाहब का कुत्ता मानो, जो वातानुकूलित घर में रहता है, जिसे समय पर अपना भोजन मिल जाता है, जो शान के साथ मोटर-गाड़ी में सफर करता है, और जिसके जीवन में कोई कमी नहीं है। अपने मन में यही भावना बनाए रखो और उस मरियल, सड़क-छाप कुत्ते की कल्पना निकाल फेंको।' एक महीने बाद वह व्यक्ति वापस आया। उसने कहा, 'स्वामीजी, मेरी उच्च रक्तचाप की बीमारी दूर हो गई।' तब तक मैं उस घटना को भूल भी चुका था। उसने मुझे याद दिलाते हुए कहा, 'मैंने आपके परामर्श का अनुसरण किया। मैं एक मेमसाहब का कुत्ता बन गया और अब मुझे उच्च रक्तचाप नहीं है!'

कर्मों से प्रभावित हुए बगैर उनके प्रवाह के साथ बहना

यह घटना किसी व्यक्ति या किसी कथन के प्रति हमारे अहंकार की प्रतिक्रिया का उदाहरण है। जो कुछ भी हमारे अहंकार को नकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है, वह एक ऐसी छाप छोड़ जाता है जो बन्धनकारी होती है। और जो कुछ भी हमारे अहंकार को एक रचनात्मक, सकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है, वह ऐसा कर्म होता है जो हमें अहंकार के बन्धन से मुक्त करता है। इसलिए लोगों को सत्कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। भारत की आध्यात्मिक परम्पराएँ ध्यान करने के बजाय सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। ध्यान तो मात्र एक साधन है, कर्मों की अवधारणा समझने, उनके प्रति सजगता विकसित करने और उन्हें सही ढंग से सम्पादित करने का।

उच्च रक्तचाप वाला व्यक्ति अपनी बहू की एक बात को लेकर कष्ट भोग रहा था। वह उसके कथन से प्रभावित हो गया और इसलिए उसे दुःख झेलना पड़ा। यदि कोई मुझसे कहे कि 'तुम गधे हो,' तो मैं जवाब दूँगा, 'हाँ, ठीक ही तो है, आखिर एक गधा ही तो दूसरे गधे को पहचान सकता है।' न तो मैं उस व्यक्ति की बात पर विश्वास करूँगा, न ही इस बात से उदास हो जाँऊगा कि किसी ने मुझे गाली दी। मैं अपने आप से कहूँगा, 'ठीक है, वह मुझे गधे के रूप में देखता है तो देखे। लेकिन मैं जानता हूँ कि मैं गधा नहीं हूँ। फिर क्यों इस बात का प्रभाव अपने पर पड़ने दूँ? दूसरा व्यक्ति किसी प्रतिक्रिया के वशीभूत होकर अनाप-शनाप कह रहा है और मैं अपने ज्ञान और विवेक के बल पर इस परिस्थिति को समझ रहा हूँ।'

समस्याएँ तब खड़ी होती हैं जब तुम किसी क्रिया पर प्रतिक्रिया करते हो। अगर तुम किसी कर्म को समझकर स्वीकार कर लेते हो तब सद्भाव बना रहता है, लेकिन अगर तुम प्रतिक्रिया व्यक्त करते हो तब तो समस्याएँ खड़ी होंगी ही।

जब योग के अभ्यासों द्वारा हम अपने स्वभाव और कर्मों का सुनियोजन कर लेते हैं, तब हम जीवन की धारा में आसानी से बहने लगते हैं। इसी प्रशिक्षण को कर्मयोग कहते हैं। शरीर, मन और अहंकार द्वारा हम अचेतन, अवचेतन और चेतन स्तर पर जो भी कर्म करते हैं, उनके बीच पूरा तालमेल और समस्वरता रहती है।

जिन भी अनुभवों और परिस्थितियों से हमारा सामना होता है, उन सब से हम कुछ-न-कुछ सीख सकते हैं। जब हम इन परिस्थितियों और संघर्षों

का सकारात्मक रूप से सामना करने में सक्षम हो जाते हैं तब यह सीखने की प्रक्रिया बन जाती है। हमें धर्म का पालन करना सीखना है, उसके विरुद्ध जाना नहीं। अगर तुम धर्म का अनुसरण करते हो, जीवन-धारा में सहजता के साथ बहते हो, सजगता और समझदारी का विकास करते हो, तो तुम मुक्त हो, स्वतंत्र हो। यदि तुम अपने धर्म का पालन नहीं करते, अपने ज्ञान का उपयोग नहीं करते, तब तुम्हारे कर्म तुम्हें बन्धन में डाल देंगे।

कर्म तभी फलदायी होता है जब वह धर्म से जुड़ा होता है। इसलिए कर्मों को सुनियोजित करने के लिए पहले मानव धर्म को पहचानो। मानव धर्म हमारा मौलिक दायित्व है। जब कर्म धर्म से जुड़ता है तब वह बदल जाता है, वह कर्त्तव्य बन जाता है। किसी कर्म को कर्त्तव्य के रूप में करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे धर्म के साथ जोड़ा जाय। धर्म शब्द का प्रयोग यहाँ पर किसी पंथ या सम्प्रदाय के सन्दर्भ में नहीं किया जा रहा है। धर्म हमारी बुनियादी जिम्मेदारी है। कर्मों को सम्भालने के लिए कर्त्तव्य को प्राथमिकता दो, कर्म को नहीं। अपने को जिम्मेदारी के साथ जोड़ो, क्योंकि वहाँ कर्म और धर्म का सुन्दर संयोग होता है। इस संयोग में सब कुछ स्वाभाविक रूप से होने लगता है। रूपरेखाएँ और योजनाएँ बन जाती हैं, कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, उनके परिणाम भी सामने आ जाते हैं और जीवन-चक्र आगे बढ़ता जाता है।

जब तुम अपने घर-परिवार की देखभाल करते हो, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था करते हो, तब यह सब तुम अपना कर्त्तव्य मानकर करते हो। अपनेपन का भाव तुम्हें अपने परिवार से सम्बन्धित सारी गतिविधियों के प्रति सजग रखता है। यदि कहीं कुछ गड़बड़ होने लगती है तो तुम फौरन कोई-न-कोई कार्यवाही करते हो और इसको तुम अपना कर्त्तव्य मानते हो। यदि परिवार के दो सदस्य आपस में झगड़ने लगते हैं तो तुम जाकर उन्हें झगड़ने से मना करते हो। ऐसा करना तुम अपना फर्ज समझते हो, इसे तुम कर्म नहीं मानते। जो भी कर्म धर्म को उत्पन्न करता है, जिस भी कर्म के माध्यम से एक सकारात्मक और रचनात्मक परिवेश का सृजन होता है, वह कर्त्तव्य होता है। इसी कर्त्तव्य-भाव को पाँचों प्रकार के कर्मों से जोड़ना है।

यदि तुम जीवन में अपने द्वारा किए गए हर एक कार्य को कर्म नहीं, कर्त्तव्य समझने लगोगे तब तुम एक कर्मयोगी कहलाओगे। इसलिए

कर्मयोगी बनने के लिए सिर्फ अपने कर्मों को सिद्ध करना है। यह कैसे सम्भव है? उस वृक्ष जैसा बनकर जो सबको समान रूप से फल देता है, चाहे कोई उस वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़े या फल नीचे गिराने के लिए पत्थर मारे या फल को पा लेने के लिए वृक्ष को ही काट डाले। हर एक अवस्था में पेड़ का कर्त्तव्य होता है फल देना। प्रकृति हमेशा अपने कर्त्तव्य का पालन करती है, जबकि मनुष्य कर्म का अनुसरण करता है। प्रकृति सभी को समान भाव से देखती है, लेकिन मनुष्य अपने कर्मों के कारण अपने आप को अहमियत देता है। जब कर्त्तव्यों का पालन होता है तब हर व्यक्ति को बराबर की अहमियत मिलती है। कर्मयोगी बनने का सरल तरीका है कर्मों को धर्म के साथ जोड़ देना। और अगर तुम साधना के मार्ग से कर्मयोगी बनना चाहते हो, अगर तुम अपने जीवन की विक्षिप्त वृत्तियों को शान्त कर प्रगति करना चाहते हो, तब तुम अपने मन के चार आयामों के साथ समझौता करना सीखो। इनमें सबसे बड़ा समझौता करना होगा अहंकार के साथ।

अहंकार अन्तिम अवरोध है। अहंकार सबसे अधिक कष्ट देता है, क्योंकि यह हमें स्वयं के प्रति सजग बनाता है, हमें हमारे नाम, यश, पद और प्रतिष्ठा का ख्याल कराता है। यह हमें पूरी तरह स्व-केन्द्रित बना देता है। और यह अहंकार ही है जो हमें कर्मों के बन्धन में जकड़ देता है और हमें धर्म से विमुख कर देता है। इसी वजह से हम कर्म को जिम्मेदारी के बजाय बोझ समझते हैं। और यह अहंकार इच्छाओं और कामनाओं द्वारा पोषित होता रहता है।

अहंकार को सम्भालने के लिए अपने आप से समझौता करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक अहं भाव बना रहेगा तब तक अपने परिवेश के साथ तुम्हारी क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहेगी, दूसरों के साथ संघर्ष होता रहेगा। तुम्हारी प्रतिक्रियाओं में मन की नकारात्मक वृत्तियाँ ही अभिव्यक्त होंगी। तुम दूसरों के कथनों पर प्रतिक्रिया करोगे और उनसे बदला लेने की कोशिश करोगे। जब तक अहंकार नियंत्रण में नहीं आता, तब तक समझौता नहीं होता। और जब अहंकार नहीं रहता, तब समझौता आसानी से हो जाता है और कर्म कर्मयोग में बदल जाता है।

मानव धर्म का पालन करते जाओ, अहंकार को सिर मत उठाने दो, दूसरों की परिस्थिति, चिन्तन और आवश्यकताओं को समझने का प्रयास करो, और

जिस तरह अपनी भलाई के लिए काम करते हो, वैसे ही दूसरों के उत्थान के लिए भी प्रयासरत रहो। ये कर्मयोगी के लक्षण हैं। कर्मयोग एक आन्तरिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम अपने चरित्र को विक्षेपरहित और परिष्कृत बना सकते हैं।

जब हम कर्म के साथ योग शब्द को जोड़ते हैं, तब इसका तात्पर्य एक ऐसी क्षमता से होता है जिसके द्वारा हम मन और अहंकार के थपेड़ों से अप्रभावित रहते हुए अपनी जीवन-यात्रा सहजता और सुगमता से संपन्न करते हैं, अपने कर्मों को सकारात्मक, सृजनात्मक और उत्कृष्ट बनाने का प्रयास करते हैं। यही कर्मयोग की सम्पूर्ण प्रक्रिया है।



नोट



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'कर्म मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति है। यह ऐसी चीज है जो सहज और स्वाभाविक रूप से व्यक्त होती है, और देखा जाए तो हमारा समस्त जीवन कर्म की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह सारी सृष्टि कर्म की साक्षात् अभिव्यक्ति ही है, जिसमें कर्म का बीज दैवी इच्छा से आरोपित किया गया है।'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग शृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

कर्म और कर्मयोग स्वामीजी द्वारा फरवरी 2010 में दिये सत्संगों का विषय था। ये प्रबोधक सत्संग इस बहुचर्चित विषय को एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उत्कृष्ट जीवन जीने का सरल मार्ग प्रशस्त करते हैं। ये सत्संग स्वामीजी की विशिष्ट व्याख्यान शैली के अनुपम उदाहरण हैं, जिसमें विषय के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ-साथ व्यावहारिक पक्षों का सरस, सुबोध सम्मिश्रण रहता है।



ISBN :978-93-81620-60-1